

बुध-प्रमुख, चारित्र-शिरोभणि, सन्मार्ग-दिवाकर
आचार्यजी विमलसागरजी महाराज
हीरक लयती वर्ष के उपलक्ष में

पूज्य नं. ४६

श्रीमत्स्वामि-समन्तभ्राताधर्य-विरचित

देवागम

अपरनाम

आप्त-सीमांसा

अनुवादक

पं. जुगलकिशोर मुख्तार

सानिध्य

परम पूज्य ज्ञान दिवाकर,
उपाध्याय मुनि श्री मरतसागर जी महाराज

निर्देशन

सहयोगी

डा. हेमन्त कुमार धर्मपल्ली

डा. व्रेमलता एवं

कुमारी रूपलता पुन्नी विजय करण जी
आगरा

प्रकाशक

मारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद

श्री-समन्तभद्र-महार्षये नमः ।

अनुवादकीर्तन-मंगल-प्रतिक्रिया

श्रीब्रह्मानभिन्नम् समन्तभद्रं
सद्वौध-चारुचरिता-जनधत्राकूस्त्ररूपम् ।
देवागम तदनुपमं वर-वौध-शास्त्रं
व्याख्यामि लोक-हित-शान्ति-विवेक-वृद्धयै ॥

‘जो सम्यग्ज्ञानमय हैं, सच्चारित्ररूप हैं और जिनके बचन
निर्दोष हैं उन समन्तभद्र (सब औरसे भद्ररूप-मंगलमय)
श्रीब्रह्मान (भगवान महावीर) को तथा श्रीब्रह्मान (विद्या-
विभूति, कीर्ति आदि लक्षणीसे वृद्धिको प्राप्त हुए) समन्तभद्र-
व्यामी समन्तभद्राचार्य (अलग-अलग तथा एक भाष्य)
निम्नकार करके, मे (उनका विनाश सेवक जुगलकिंशोर । लीकिङ-
जनोंको हित-वृद्धि, शान्ति-वृद्धि और विवेक-वृद्धिके लिये उस
‘देवागम’ की (सण्ठार्थ आदित्ये युक्त हिन्दी अनुवादरूप)
व्याख्या करता है, जो कि उत्तम ज्ञानकी जास्ति-शिक्षाको लिये
हुए—सम्यक् तथा मिथ्या उपदेशके अर्थविजेषकी प्रतिपत्ति—
ज्ञानकारी करानेवाला—अनुपम शास्त्र है और स्वामी समन्तभद्रकी
एक अद्वितीय कृति है ।’

प्रन्थानुक्रम

	पृष्ठ
१. समर्पण	१
२. प्रकाशकीय	३
३. घन्यवाद	८
४. अनुवादकीय वक्तव्य	९
५. प्रस्तावना	१-४७
६. विषय-सूची	४९
७. मूलपत्र : अनुवाद सहित	१-१०७
८. कारिकानुक्रमणिका	१०८
९. प्रमुखशब्द-सूची	१११

प्रतिकृति

सन् १९६४ में बीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट-द्वारा 'समाचिमरणोत्साहीयक' का प्रकाशन हुआ था और जब प्रस्तुत स्वामी समन्तभद्रकृत देवागम (आसमीभाषा) का उसके हिन्दी-भाष्यके साथ मुद्रण हो रहा है। यह हिन्दी-भाष्य प्रसिद्ध साहित्य और इतिहासवेता तथा स्वामी समन्तभद्रके अनन्यभक्त एवं उनकी कृतियोंके भर्मज अद्वय पण्डित चुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता बीरसेवामन्दिर-ट्रस्टद्वारा रखा गया है। विंश पाठकोंसे यह अविवित नहीं है कि स्वामी समन्तभद्रकी प्रायः सभी उपलब्ध कृतियाँ अत्यन्त गम्भीर, दुर्लभ और दुरवगाह हैं। एक 'रत्नकरण्डकभावकाचार' ही ऐसी कृति है जो अन्य कृतियोंसे अपेक्षाकृत सरल है। पर वह सीढ़ा-निक रचना है और इसलिए उसका सरल होना स्वाभाविक है। धर्मका उपदेश सरल भाषामें होना ही चाहिए। समन्तभद्रकी घोष कृतियोंमें 'स्तुति-विद्या' काव्य-कास्त्रकी उच्च कोटिकी रचना है जो समन्तभद्रके सत्सम्बन्धी वैद्युत्यको प्रकट करती है। देवागम, मुक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र ये तीनों वार्षनिक रचनाएँ हैं, जो जैन वर्णनकी अप्रतिनिधि कृतियाँ हैं और जिनसे समय जैन वाङ्मय प्रदीप्त है।

प्रसङ्गताकी बात है कि स्तुति-विद्याको छोड़कर शेष चारों कृतियोंका व्याख्याता होनेका सौभाग्य मुख्तारसाहबकी प्राप्त है। उन्होंने इन कृतियोंका वर्णन तक स्वयं अध्ययन, मनन और अनुशोलन किया और तब उनपर व्याख्यान लिखे हैं। यद्यपि उन्होंने इन कृतियोंको गुरुमुखसे पढ़ा नहीं, किर भी उन्होंने इनके धर्मको जितनी अच्छी तरह समझा तथा अपने भाष्योंमें उसे प्रस्तुत किया उसमी अच्छी तरह गुरुमुखसे उन्हें पढ़नेवाला भी सम्भवतः नहीं कर सकता। टीकाओं, कोषों और गम्भान्तरीके आधारसे उन्होंने इन भाष्योंको लिखा है और इसमें उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ा है। फलतः वे इन धन्योंके सलदृष्टा एवं सफल व्याख्याता सिद्ध हुए हैं।

प्रस्तुत वेवागम-ग्रन्थ उसी क्रममें संचितिष्ठ है। स्वयम्भूस्तीति, मुख्यनृशासन आदिकी तरह इसके भी प्रत्येक पद-वाक्यादिका उम्होंने अपना वर्णनकोट किया है और यहकारके हार्दिको प्रस्तुत करनेमें सफल हुए हैं। इस महत्वपूर्ण रचनाको उपस्थित करनेके लिए वे समाजके विवेचनाएँ विद्वानोंके अन्यान्याबाहुर्व हैं।

इसकी प्रस्तावना लिखनेका बायदा हुमने किया था। परन्तु हमें अत्यन्त लेंद है कि हम उसे शोध न लिंग तके और जिसके कारण ऐसे कई विवाद विलम्ब इसके प्रकाशनमें हो चुके। इसके लिए हम पाठ्योंसे जागा-जागी हैं। मुख्यार साहृदयका वैर्य और स्नेह ही प्रस्तावनाके लिखानेमें निवित हुए, अतः हम उसके भी छुताव हैं।

आशों है पाठ्य इस महत्वपूर्ण छंतिको प्राप्तकर प्रसन्न होंगे और विकादबन्ध कष्टको भ्रूल जावेंगे।

—दरबारीलाल जैन कोठिया
मन्त्री, दीर्घेवामनिदर-द्रस्त

अनुवादकीय वर्तनव्य

मूलके अनुकूल बाद—कथनको अनुवाद कहते हैं। जो अनुवाद मूलका ठीक-ठीक अनुसरण न करे, मूलकी सीमाएँ बाहर निकल जाएँ अथवा बीच-बीचमें इधर-उधरकी दुष्कृति देली दूसरी पारियों उपरिये रुद्ध-विद्ध करे, जिनका प्रकृत विषयके साम कोई सम्बन्ध न हो वह अनुवाद कहलानेके खोय नहीं। अनुवाद-ग्रन्थ यही 'देवागम' है, जो स्वामी जैसे उन अद्वितीय महान् आचार्यकी अपूर्व कृति है जिनके बच्चोंको उत्तम पुरुषोंके कर्त्तोंका आभूषण बनानेवाली बड़े-बड़े शोल-सुलीक योद्धियोंकी यात्राओंके प्राप्तिसे अधिक दुर्लभ बतलाया है और भववान् महावीर-बाणीके समकक्ष दैदीप्यमान घोषित किया है। देवागम वह नाम बन्धके 'देवागम' शब्दसे प्रारम्भ होनेसे सम्बन्ध रखता है; जैसे भन्नामर, कल्याणमस्ति, स्वयम्भूस्तोत्रादि ग्रन्थ प्रारम्भिक शब्दके अनुस्य अपने-अपने नामोंको लिए हुए हैं उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी, जो अस्तुतः एक बाधारात्र कोटिका स्तोत्र-ग्रन्थ है, अपने प्रारम्भिक शब्दानुसार 'देवागम' कहा गया है। इसका दूसरा नाम 'आप्तमीमांसा' है, जो बाहो—सर्वज्ञ कहे जानेवालों—के बच्चोंकी परीक्षाद्वारा उनके मरोंके स्त्र्यासत्यनिर्विवरी दुष्टिको लिए हुए हैं। समन्तभद्रके सभी चन्द्र दो-दो नामोंकी लिए हुए हैं; जैसे 'जिन-शतक' का दूसरा नाम 'स्तुतिविद्वा' और मुक्त्यनुवासनका दूसरा नाम 'बीरजिनस्तोत्र' है, जो देवागमके बाद—सब आप्तो-सर्वज्ञोंकी परीक्षा कर लेनेके अनन्तर—श्रीबोरजिनकी स्तुतिमें लिप्ता नथा है। समन्तभद्रके किसी भी ग्रन्थका नाम केवल प्रारम्भिक छन्दके बाधारपर ही नहीं है किन्तु साधमें मृणप्रत्यय भी है, देवागम भी ऐसा ही नाम है वह मूलका-रिकानुसार देवोंके आगमनका वाचक ही नहीं बल्कि जिनेन्द्रदेवका आगमन जिसके हारा व्यक्त होता है उस वर्षका भी वाचक है।

देवागमकी मूल कारिकाएँ कुल १८४ हैं, देखनेवे आवा सरल जान

पड़ती है—सामान्य अर्थकी दृष्टिसे कोई खास कठिनाई मालूम नहीं पड़ती; परन्तु विशेषार्थ और फलितार्थकी दृष्टिसे जब विचार किया जाता है तो बहुत कुछ गहन-गम्भीर तथा अर्थगौरवको लिए हुए जान पड़ती है। सभी कारिकाओं प्रायः सूत्ररूपमें हैं। अनेक कारिकाओंमें सौ कितने ही सूत्र एकत्राप्त निबद्ध हैं। ऐसे हैं : सूत्रजीली प्राणः शतिसंशिष्टरूपसे कथनको शैली है और इसलिए सूत्रों अथवा सूत्ररूप कारिकाओंका अर्थ स्पष्ट करतेके लिए कितनी ही बातोंका ऊपरसे लेना—लगाना होता है, जिनसे यह मालूम हो रहे कि सूत्रकारके सामने क्या परिस्थिति थी, कोई मत-विशेष अथवा प्रश्न-विशेष उपस्थिति था, जिसे लेकर इसका अवतार हुआ है। श्री अकलं कदेवने अपने अष्टशती (आठसौ श्लोकोंके परिमाण जितने)-भाष्यमें देवागमकी अर्थदृष्टिको सूत्ररूपमें ही खोला है। परन्तु विषयकी दृष्टिसे वे सूत्र इतने कठिन और दुर्गम हो गये हैं कि साधारण विद्वान्‌की तो बात ही क्या, अच्छे विद्वान् भी उने सहजमें नहीं लगा सकते हैं। उक्त अष्टशती-भाष्यको अपनाकर श्रीविद्यानन्दा-नारायणे देवागमपर जो अष्टसहस्री (आठ-हजार श्लोक परिमाण) नामकी अलौकिकति लिखी है उससे अष्टशतीका सूत्रार्थ स्पष्ट अवभासित होता है और उसकी गम्भीरता एवं जटिलताका फता चल जाता है। यह अष्ट-सहस्री-टीका भी विषयकी दृष्टिसे कठिन शब्दोंकी भरमारको लिए हुए हैं और इसलिए एक विद्वान् यशोविजय (श्वेताम्बराचार्य) को इसपर टिप्पण लिखना पड़ा है, जिसका परिमाण भी आठ हजार श्लोक जितना ही गया है। इससे मूलानन्द्य कितना अधिक गहन, गम्भीर तथा अर्थ-गौरवको लिए हुए है, यह और भी स्पष्ट हो जाता है।

अष्टसहस्रीको स्वयं विद्यानन्दाचार्यने 'कष्टसहस्री' लिखा है अर्थात् उसका निर्माणकार्य सहस्रों कष्ट झेलकर हुआ है और यह बात उन भिन्न पाठकोंसे छिपी नहीं, जो ऐसे खोजपूर्ण महस्तके ग्रन्थोंका निर्माणकार्य करते हैं—उन्हें पढ़-पढ़पर उस कष्टका अवभासन होता है—साधारण विज्ञ पाठकोंके बशकी बहु बात नहीं। ठीक है, प्रश्नने जो भारी वेदांग होती है उसे बौद्ध क्या जानें ? आचार्य भग्नोदयने एक बात इस अष्ट-

सहस्रीके विषयमें और भी लिखी है और वह यह कि 'हजार शास्त्रोंके सुननेसे क्या, एक अष्टसहस्रीको सुनना चाहिए, जिस अकेलीसे ही स्वसमय और परसमय दोनोंका यथार्थ बोध होता है'।^१ यह मान्य अपने ग्रन्थकी प्रशंसनमें लिखा हुआ वाक्य नहीं है, बल्कि सहस्री वस्तुस्थितिका द्योतक है। एक बार खुजाके सेठ वं० मेवारामजीने बतलाया था कि जर्मनी-के एक विद्वान्‌ने उनसे कहा है कि 'जिसने अष्टसहस्री नहीं पढ़ी वह जैनी नहीं और जो अष्टसहस्रीको पढ़कर जैनी नहीं हुआ उसने अष्टसहस्रीको समझा नहीं।' कितने महत्वका यह वाक्य है और एक अनुभवी विद्वान्‌के मुखसे निकला हुआ अष्टसहस्रीके गौरवको वितना अधिक रूपापित करता है। सचमुच अष्टसहस्री ऐसी ही एक अपूर्व कृति है और वह देवागमके मर्मका चद्घाटन करती है। खेद है कि आज तक ऐसी महत्वकी कृतिका कोई हिन्दी-अनुवाद एवं नौट्राल के लकुम्प होकर पक्का शिशु नहीं हो सका।

जिन्होंने स्तुति-विद्याका अध्ययन किया है वे जानते हैं कि समन्त-भट्टको शब्दोंके ऊपर कितना अधिक एकान्विपत्य प्राप्त था। इलोकके एक चरणको उलटकर दूसरा चरण, पूर्वार्धको उलटकर उत्तरार्थ और सारे इलोकको उलटकर दूसरा इलोक बना देना तो उनके बाएँ हाथका खेल था। वे एक ही इलोकके अक्षरोंको ज्यों-का-त्यों स्थिर रखते हुए उन्हें कुछ मिलाकर या बलगसे रखकर दो अर्थोंके बावजूद दो इलोक प्रस्तुत करते थे। श्रीबीर भगवान्‌की स्तुतिमें एक व्यक्ति उत्तरार्थ है 'ओमते वद्यमानाय नमो नमितविद्विये।' यही उत्तरार्थ अगले दो पद्मोंका भी उत्तरार्थ है। परन्तु अर्थ तीनों पद्मोंके उत्तरार्धोंका एक-दूसरेसे प्राप्तः भिन्न है। ये सब बातें रचनाके महत्व और उनकी कला-पूर्णताको व्यक्त करती हैं। प्रस्तुत देवागम भी ऐसे कलापूर्ण महत्वसे अद्युता नहीं, उसमें एक कारिकाको एक जगह रखनेपर एक अर्थ, दूसरी जगह कुछ कारिकाओंके मध्य रखनेपर दूसरा अर्थ और तीसरी जगह

१. श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतेः किमन्यैः सहस्रसंस्थानेः ।

विज्ञायेत यथैव स्वसमय-परसमयसङ्गावः ॥

रखनेपर तीसरा अर्थ हो जाता है। वह कहरिल है 'चिरोधान्तोभवीकारम्' नामकी, जिसे यम्भमें ९ स्थानोंपर रखा गया है और यम्भ-सन्दर्भकी वृष्टिसे अपने-अपने स्थानपर उसका अलग-अलग अर्थ होता है—एक स्थानपर जो अर्थ बटित होता है वह दूसरे स्थान पर बटित नहीं होता।

ऐसे महान् आचार्यके इतने गहन, कंठौर तथा अर्थगीरवको लिए हुए कलापूर्ण ग्रन्थका अनुवाद मेरे बैका अकिं करे, जिसने न किसी विद्यालय-कालेजमें व्यवस्थित शिक्षा बहुकर छिपी प्राप्ति की है और न साक्षात् गुरुमुससे ही ग्रन्थका अनुवान किया है, यह आश्चर्यको ही बात है! फिर भी स्वामी समन्तभद्र और उसके उच्चनोंके प्रति मेरी जो अकिं है वही यह सब कुछ अद्भुत कार्य मूलसे करा रही है—'तद्भक्तिरेव मुखरीकुरते बलान्माम्' मानसुङ्घाचार्यका यह बाक्य यही ठीक अटित होता है। इसी भक्तिसे प्रेरित होकर मैंने इससे पहले स्वामीजीके तीन ग्रन्थों—स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन और सप्तोचीन भर्म-शास्त्रके अनुवादादि प्रस्तुत किये हैं जो विद्वानोंको शब्दिकर जान पड़े हैं। इसके किए स्व० स्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमारजीका एक बाक्य यही उद्भृत कर देना अनुचित न होगा, जो उम्होने तत्त्वानुशासनके 'प्राक्क-षन' में ग्रन्थके-अनुवाद-विषयमें लिखा है—

'युक्त्यनुशासन जैसे जटिल और सारमर्म महान् ग्रन्थका सुन्दर-तम अनुवाद समन्तभद्र स्वामीके अनन्यनिष्ठभक्त समहित्यन्तपत्ती प० जुगलकिशोरजी भुक्तारने जिस अकल्पनीय सरलतासे प्रस्तुत किया है वह स्यायविद्वाके अधिकारियोंके लिए आलोक देगा।'

इस प्रकारके विद्वान्वयोंसे मुझे प्रोत्साहन मिलता रहा और मैं बराबर अपने कार्यमें अग्रसर होता रहा हूँ।

देवागमकी प्राप्ति मुझे बाजसे कोई ७० वर्ष पहले जयपुरके ८० जग्यचन्द्रजीकी जयपुरी भाषामें लिखी टीका-सहित हुई थी, जिसकी मैंने स्वाध्यायके अनन्तर निज पठनार्थ प्रेमपूर्वक प्रतिलिपि भी बच्चे पुष्ट करणजीके शास्त्राकार खुले पत्रोंपर की थी, जिसकी पत्रसंख्या ९० है और जो अंगसिर बढ़ी सप्तमी संवत् १९५५ को लिखकर समाप्त हुई थी।

यह हस्तालिखित प्रति आज भी मेरे संचरणमें सुरक्षित है। इस टोकासे मुझे अन्यको विचारिक जगत्कारीके लिए और जो गुलियाँ इस टोकासे नहीं मुलाज सकते उन्हें सुलझानेके लिए दूसरी टोकाओंको देखनेकी प्रेरणा मिली और मैं बराबर उनकी तलाशमें रहा। सन् १९०५ में सनातन जैन चर्यमालाका प्रथम गुण्डक वम्बद्धि प्रकाशित हुआ, जिसमें वसुनिधि आचार्यकी एक वृत्ति (संस्कृत-टीका) देखनेको मिली। यह वृत्ति शब्दाधीनकी दृष्टिसे अच्छी उपयोगी जान पड़ी। इसके अन्तमें आचार्यने स्वामी समन्तभद्रको 'निभुवनलक्ष्यपत्राक', 'प्रमाणनयचक्र' और 'स्थानादशरीर' जैसे विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है और अपनेको 'शूलविस्मरणशील' तथा 'बहमति' लिखा है और 'वारत्मोपकार' के लिए इस टीकाका लिखा जाता सूचित दिया है। यहाँ नोट १० वर्त वाले सन् १९१५ में अष्टसहस्रीका प्रकाशन भी वम्बद्धिसे हुआ। वह अष्टवातीको भी हृदयंगम किये हुए है और अनेक टिप्पणीको भी साथमें लिए हुए हैं। तभीसे वे मेरे अध्ययनका विषय बनी रही हैं और उनसे प्रत्येक उल्लङ्घने सुलझी हैं।

मेरा प्रस्तुत अनुवाद मुख्यतः अष्टसहस्रीके बाखारपर अवलम्बित है, जिसके लिए मैं श्रीविद्यानन्दाचार्यका बहुत आभारी हूँ। मेरे अनुवादमें जो कुछ लूबी है उसका प्रयुक्त श्रेय स्वामी समन्तभद्र और उनके अनन्यभक्त उक्त आचार्य महोदयको प्राप्त है, जहाँ कहीं कोई चुटि है वहाँ मेरी अपनी ही है। मैंने सब टीका-टिप्पणीके साथ अष्टसहस्रीका बोहन कर जो मोटा नवनीत (मक्तव्य) निकाला है और जिसे मैंने अपने पाठ्यक्रमके लिए परम उपयोगी तथा हितकर समझा है उसीको अनुवादादिके रूपमें निवेद किया गया है, जो पाठ्यक विशेष सूक्ष्म बातोंको जाननेके इच्छुक हों वे अष्टसहस्रीसे अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित करें। मूल कारिकाओंपरसे जो अर्थ सहज फलित तथा अनुभृत होता है उसे मूलानुग्रामो अनुवादके रूपमें ब्लैक-टाइपमें रखा गया है, उस अर्थका यथागत्य स्पष्टोकरण डैश (—) के अनन्तर अधिक दो डैशोंके भीतर दिया गया है और जो बातें कवनका सम्बन्ध बिठलानेके लिए उपरसे लेनी पड़ी हैं गोल टैक्टके भीतर रखा गया है—कहीं-कहीं

किसी अर्थका दूसरा पर्याय शब्द भी संकटके भीतर रखा गया है। साथ ही किसी-किसी कारिकाके अर्थको और विशद करनेके लिए व्याख्याको भी अपनाया गया है। जैसे कारिका ८ की व्याख्या। ऐसी व्याख्याएँ और अधिक लिखी जातीं तो अच्छा होता। परन्तु समय और शक्तिने यथावसर इजाजत नहीं दी। इससे मूल्यान्वय और अनुवादकी सारी स्थितिको भले प्रकार समझा जा सकता है।

यही एक बात और प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि प्रस्तुत देवागममें जिस आप्तकी भीमांसा की गई है वह आप्त वह है जो तत्त्वाधारिकामूल्यकी आदिमें मंगलाचरणरूपसे रचित स्तुतिका विषयभूत है; जैसा कि अष्टसहस्रोका प्रारम्भ करते हुए विद्यानन्दजीके निम्न मंगल-इलोकवाक्यमें प्रकट है :—

‘शास्त्रावत्ताररचितस्तुगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलङ्घियते मयाऽस्य ।’

अन्तिमत्त्वार्थकारन्तेन भगवान् इत्य रन्ती गई जो स्तूति ('मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि) उसका विषयभूत जो आप्त है उस आप्तकी भीमांसाको लिए हुए समन्वयदकी कृति (आप्तमीमांसा) को मैं अल्पकृत करता हूँ। इसी बातको विद्यानन्दने अपनी आसपरीक्षाके अन्तमें निम्न पद्म द्वारा और भी स्पष्ट कर दिया है :—

श्रीमत्त्वार्थशास्त्राद्वृतसङ्क्लिष्टिधेरिद्वरत्नोद्भवस्य,
प्रोक्षानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रारैः कृते यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपर्यं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानन्दैः स्वशक्तया कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यं ॥

इसमें जो कुछ दर्शाया है उसका सार हतना ही है कि तत्त्वार्थशास्त्र नामका जो अद्भुत समूद्र है उसके निर्माणके प्रारम्भकालमें मंगलाचरणके लिए जो तीर्थोपमान स्तोत्र सुनकारद्वारा रखा गया है उसकी स्वामी समन्वयदकी भीमांसा की है और मैंने वह परीक्षा सत्यवाक्यार्थको सिद्धिके लिए लिखी है।

ऊपर जिस मंगल-स्तोत्रकी चर्चा है वह पूर्ण इस प्रकार है :—

मोक्षमार्गस्व नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतस्थाना बन्दे तदगुणलब्धवये ॥

इसमें आप्तके तीन गुणोंका उल्लेख है और उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए ही आप्तकी बन्दना की गई है । वे तीन गुण हैं मोक्षमार्गका नेतृत्व, मोहादिकर्मभूभृतोंका भेतृत्व और विश्वसत्त्वोंका जातृत्व । ये गुण आप्तमें जिस लक्ष्यसे विकासकी प्राप्ति होते हैं वह हैं पहले मोहादिकर्मभूभृतों (पर्वतों) का भेदन होकर राग-द्वेषादि दोषोंका अभाव होना, दूसरे ज्ञानावरणादिका अभेद्य होकर विश्वसत्त्वोंका ज्ञाता होना और तीसरे भागमेष्टके स्थाने मोक्षमार्गोंका गांता होना; जैसा कि स्वामीजीके समीचौनथर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) के निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

आप्तीनोरसन्दोषेण सर्वज्ञेनाममेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥

तब उक्त मंगल-स्तोत्रमें आप्तके विशेषणोंको क्रमधंग करके व्याख्या दी गया है—तृतीय विशेषणको प्रथम स्थान क्यों दिया गया है ? यह एक प्रश्न पैदा होता है । इसके उत्तरमें इतना ही निवेदन है कि तत्त्वार्थसूत्रको 'मोक्षशास्त्र' भी कहते हैं, जगह-जगह 'मोक्षशास्त्र' नामसे उसका उल्लेख है । मोक्षशास्त्रका मंगलाचरण होनेसे ही इसमें 'मोक्षमार्गस्व नेतारम्' पदको प्रधानता दी गई है और यही बात विशेषणपदोंको क्रमधंग करके उसका कारण बात पड़ती है । सब्द हस्त बातको स्पष्ट सूचित करती है कि यह मोक्षशास्त्रका मंगल-पद है ।^१ अस्तु ।

इस अनुवादको म्यायाचार्य पण्डित दरबारीलालजी जैन कोठियाने पूर्ण मनोयोगके साथ पढ़ जानेकी रूपा भी है और कितना ही प्रूफरीडिंग मादि भी किया है । दो-एक जमह समृद्धित परामर्श भी दिया है । इस सब कृपाके लिए मैं उनका बहुत अभारी हूँ । साथ ही उन्होंने प्रस्तावना

१. इस मंगलाचरण-विषयका विशेष उद्धापोह च्यायाचार्य पण्डित दरबारीलालजीकी प्रस्तावना उपरा उन लेखोंमें किया गया है जो अनेकान्त वर्ष ५ कि० ६-७ व कि० ११-१२ में प्रकाशित हुए हैं ।

लिल देनेकी को छपा को है वह विस्त्रेच आभारके योग्य है। पश्चिम प्रस्तुतावनाके सिखानेमें उन्हें अपनी कुछ परिस्थितियोंके बाबा आशातीत विलम्ब हुआ है, जिसे उन्होंने अपने प्रकाशकीयमें स्वीकार किया है फिर भी मैं तो यही समझता हूँ कि पुस्तकके प्रकाशनका योग इससे पहले नहीं था और इससे विलम्ब हुआ है। बस्तु ।

आशा है पाठ्यक्रम यह इस बनुवादाविको पाकर प्रसन्न होंगे और प्रसीक्षाजन्य कष्टको भूल जायेंगे तभी अपनी चिर कालीन इच्छाको पूरा करनेमें समर्थ हो सकते ।

लोकहिताकांथी
जुबलिकिंचोर मुस्तार

प्रस्तावना

देवागम और समन्तभद्र

१. देवागम :

(क) नाम

प्रस्तुत कृतिका नाम 'देवागम' है। प्राचीन ग्रन्थकारोंने प्रायः इसी नामसे इसका उल्लेख किया है। अकल कुदेवने इसपर अपना विवरण (वह-
क्षती-भाष्य) लिखनेकी प्रतिशा करते हुए उसके आरम्भमें इसका यही नाम
दिया है और उसे 'भगवत्स्तव' (भगवान्‌का स्तोत्र) कहा है।^१ विद्यानन्द
ने भी 'आष्टुप्युषी' (पृ० २९१) ते ब्रह्मात्मकोंके अवतारीयत 'स्वोक्तु-
परिक्षेपे' पदकी व्याख्या 'देवागमालये' 'शास्त्रे' करके इसका 'देवागम'
नाम स्वीकार किया है।^२ वादिराज,^३ हस्तिमल्ल^४ आदि ग्रन्थकारोंने भी
अपने ग्रन्थोंमें समन्तभद्रको उल्लेखनीय कृतिके रूपमें इसका इसी नामसे
निर्देश किया है। आख्यर्य नहीं कि जिस प्रकार 'स्वामिनामित्र',

१. कृत्या विविष्टे स्तवो भगवतां देवागमस्तलक्तिः ।'

—अष्टुप्युषी प्रारम्भिक पृ० २ ।

२. 'इति देवागमालये स्वोक्तुपरिक्षेपे शास्त्रे....।'

—अष्टुप्युषी पृ० २९४ ।

३. 'स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयादहम् ।

देवागमेन सर्वशो येनाशापि प्रदर्शयते ॥'

—पाठ्य० प० ।

४. देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सदर्शनान्वितः ।'

—विक्रान्त कौ० प० ।

‘करतामर’, ‘एकीभाव’ आपि स्तोत्र ‘कल्यापनविद्वर’, ‘भक्तमर’, ‘एकीभाव’, जैसे आदि पदोंसे आरम्भ होनेके कारण से उन नामों से प्रस्ताव हैं उसी प्रकार यह स्तव भी ‘देवागम’ पदसे आरम्भ होनेसे ‘देवागम’ नामसे अधिक प्रसिद्ध रहा हो और इसीसे ग्रन्थकारों द्वारा वह इसी नामसे विशेष उल्लङ्घित हुआ हो। स्तवकारने^१ इसका ‘आप्तसीमांसा’ नाम चिह्ना है, जिसे अकल्पकुदेवने^२ ‘सर्वज्ञविदेवपरीकरा’ कहा है। विद्यानन्दने^३ अपने ग्रन्थोंमें ‘देवागम’ नामके अतिरिक्त इस ‘आप्तसीमांसा’ नामका भी उपयोग किया है। इससे मालूम पड़ता है कि यह कृति जहाँ ‘देवागम’ नामसे जैसे साहित्यमें विश्रृत है वहाँ वह ‘आप्तसीमांसा’ नामसे भी। और इस तरह यह महत्वपूर्ण रचना दोनों नामोंसे प्रस्ताव है।

(ल) परिचय :

यह दश परिच्छेदोंमें विभक्त है और ये परिच्छेद विषय-विभाजनकी दृष्टिसे स्वयं ग्रन्थकारीकृत है।^४ ग्रन्थकारकी यह दश-संख्यक परिच्छेदोंकी कल्पना हुये आचार्य गृहपित्तके तत्त्वार्थसूत्रके दश अध्यायों और महाविकाणादके ‘वैशेषिकसूत्र’के दश अध्यायोंका स्मरण दिलाती है। अन्तर इतना ही है कि ये सूत्र-ग्रन्थ गद्यात्मक तथा सिद्धान्तशालीमें रचित हैं और देवागम पद्यात्मक एवं वार्षिक शैलीमें रचा गया है। उस समय व्याख्यातिक रचनाएँ प्रायः कारिकात्मक तथा इष्टदेवकी स्तुतिरूपमें रची जाती थीं। नागार्जुन, वसुदेव आदि वार्षिकोंकी रचनाएँ इसी प्रकार की उपलब्ध हीती हैं। समक्षात्मने भी समयकी माँगके अनुरूप अपने तीन (स्वयम्भू, युक्त्यनुपासन और देवागम) स्तोत्र वार्षिक एवं कारिकात्मक शैलीमें रचे हैं।

१. ‘इतीयमाप्तसीमांसा विहिता हितमिच्छसाम् ।’

—देवागम का० ११४ ।

२. अष्टशा० देवागम का० ११४ ।

३. अष्टशा० प० १, आप्तपरीक्षा प० २३३, २६२ वीरसेवामन्दिर, दरियागंज, दिल्ली ।

४. ‘स्वीकृपरिच्छेद’—अष्टशा०, देवागम का० ११४ ।

प्रथम परिच्छेद :

इसके दस परिच्छेदों में पुल ११४ लगते हैं। इन परिच्छेदों में १-२३ कारिकाएँ हैं। १-३ तक उन विशेषताओंका उल्लेख करके मीमांसा की गई है जिनसे आप्त माननेकी बात कही जाती है। ४वींमें ऐसे व्यक्तिनिविशेषकी सम्भावना की है जो निर्दोष हो सकता है। ५वींमें ऐसे हेतुसे सामान्य आप्त (सर्वत) का संस्थापन (अनुभाव) किया है जो साध्यका अविनाभावी तथा निर्दोष है। ६ठींमें वह सामान्य आप्तात्म युक्तिपूर्वक अहंतमें पर्याप्ति किया गया है और कहा गया है कि यूक्ति उनका धारन (सत्त्वप्रलयण) प्रमाणाविद्वद् है, अतः वही आप्त प्रमाणित होते हैं। ७वींमें बताया है कि जो एकान्त तत्त्वके प्रकृपक है उनका वह एकान्त प्रकृपण प्रत्यक्ष-विद्वद् है। ८वींमें यह बताया गया है कि एकान्तवादियोंका वह तत्त्वप्रलयण प्रत्यक्ष-विद्वद् क्षेत्र है। यतः एकान्तवादी स्वपरवैरी है, अतः उनका पृथ्य-पापादि प्रलयण उनके पाहीं समझ नहीं है। ९-११ तक तीन कारिकाओं द्वारा वस्तुको सर्वता भाव (विषि) कम स्वीकार करनेपर प्रागभाव आदि आरो अभावोंके अपश्लेषका दोष दिया गया है। बताया गया है कि प्रागभावका अपश्लेष करने पर किसीका उत्पाद नहीं हो सकेगा—अर्थात् कार्य बनादि हो जायेगा, प्रब्लेमावादके म रहनेपर किसीका भाव नहीं होगा—अर्थात् कार्यद्रव्य अनन्त हो जायेगा, अस्तीन्द्रियाभावके निवेद करनेपर 'यह अमुक है, अमुक नहीं' ऐसा निर्णय नहीं हो सकेगा—अर्थात् सब सबरूप हो जायेगा। और अस्त्वाभावके लोप हो जानेपर वस्तुका अपना प्रतिनियत स्वरूप न रहेगा। इस तरह सारी वस्तुव्यवस्था चौपट (समाप्त) हो जायगी।

कारिका १२ द्वारा उन्हें दोष दिया गया है जो वस्तुको सर्वता अभाव (शून्य) कम मानते हैं। कहा गया है कि अभावरूप वस्तु स्वीकार करनेपर उसे स्वयं जाननेके लिए दोष (ज्ञान) और दूसरोंको जानने—वतानेके लिए वचनरूप साधन-प्रमाणों तथा अनिमित्त भावरूप वस्तुको स्वयं दोषपूर्ण जानने और दूसरोंकी दोषपूर्ण वसानेके लिए उक्त दोनों

(दोष और बचनरूप) दूषण-प्रभावोंको स्वीकार करना आवश्यक है, जो सर्वथा अमावश्यादमें सम्भव नहीं, क्योंकि वे दोनों भावरूप हैं।

१३ में सर्वथा भाव और सर्वथा अभाव दोनोंरूप वस्तुको मानमेपर विरोध तथा उसे सर्वथा अवास्था (अनिर्बचनीय) स्वीकार करनेपर उसका 'अवास्था' शब्दसे भी कहन न कर सकनेकां दोष विषया गया है।

१४-२२ तक ५ कारिकाओं द्वारा स्पाहादनय (अगेशावाद) से वस्तु-को अनेकान्तात्मक अर्थात् भाव (विषि) और अभाव (निषेष) रूप विरोधी युगलको लेकर उसे सप्तभज्ज्ञात्मक (सप्तष्टर्मरूप) सिद्ध किया है। २३वीं कारिका द्वारा एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि विरोधी युगलों-को लेकर भी वस्तुमें सप्तवर्णी (सप्तभज्ज्ञात्मका) वीर्यप्रत्यय वर्तने की सूचना की गई है।

इस तरह इस प्रथम परिच्छेदमें भाव और अभावके सम्बन्धमें उन एकान्त माध्यतामोंकी मीमांसा की गई है जो प्रम्यकारके समयमें चर्चित एवं बहुमूल थीं। साथ ही उनका नयनविषयादें समन्वय करके उनमें सप्तभज्ज्ञी-अनेकान्तकी स्थापना की है।

द्वितीय परिच्छेद :

द्वितीय परिच्छेदमें २४-३६ तक १३ कारिकाएँ हैं। २४-२७ तक चार कारिकाओं द्वारा अद्वैतकान्त (सर्वथा एकवाद) की समीक्षा की गई है और कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा एक भावमेपर क्रियाभेद, कारक-भेद, पृष्ठ-पापरूप कर्मद्वैत, सुख-दुःखरूप फलद्वैत, इहलोकन्यरलोक-रूप लोकद्वैत, विद्यान्विद्यारूप ज्ञानद्वैत और बाध-भोक्तारूप जीवकी चुदाशृङ्खला दो अवस्थाएँ ये सब अद्वैतमें सम्भव नहीं हैं। इसके सिवाय हेतुमें अद्वैतकी सिद्धि करनेपर साधन और साध्यका द्वैत स्वीकार करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। परि विना हेतुके ही अद्वैत माना जाय, तो द्वैतको भी विना हेतुके मान लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त अद्वैतवादमें यह भी विचारणीय है कि 'अद्वैत', पदमें जो 'द्वैत' शब्द पड़ा हुआ है उसका वास्थ द्वैत है या नहीं? क्योंकि नामवाली वस्तुका

निवेद उसके अस्तित्वको स्वीकार किये जिना नहीं हो सकता और अनेकों स्वीकार करनेपर सर्वथा अद्वैतकी मान्यता समाप्त हो जाती है। यथार्थमें अद्वैत द्वैतका निवेद है और दूसरे बस्तुभूत अद्वैतकान्तर्में स्वीकृत न होनेसे उसका निवेदकम् सर्वथा अद्वैत को साना जा सकता है?

कारिका २८ के हारा सर्वथा द्वैत (अनेक) वादी वैदेशिकोंके अनेक-वादकी आलोचना करते हुए प्रतिपादन किया गया है कि जिस पृथक्त्व गुणसे इत्यादि पंचाणीको पृथक् (अनेक) कहा जाता है वह उनसे अपृथक् है या पृथक्? उसे उनसे अपृथक् तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वैसा उनका सिद्धान्त नहीं है। यदि उसे उनसे पृथक् कहा जाय तो वह पृथक्त्व मुण अपनी सत्ता कायम नहीं रख सकता, क्योंकि वह अनेकोंमें रहकर ही अपने अस्तित्वको स्थिर रखता है। इस प्रकार वैदेशिकोंके अनेकवादकी मान्यताका आधार-स्तम्भ (पृथक्त्वमुण) वह वह नहीं है तो उसपर आधारित अनेकवादका प्रसाद नहीं बराबायी हो जाता है।

बोद्ध भी अनेकवादी है। पर उनका अनेकवाद वैदेशिकोंके अनेकवाद-से भिन्न है। वे कन्यामूल्य एकत्व न मानतार उसका पृथक्-पृथक् अनेक जिसदृश क्षणोंको ही बस्तु स्वीकार करते हैं। उनकी इस मान्यताकी भी २९-३१ तक तीन कारिकार्डों हारा सर्वीक्षा की गई है। कहा जाता है कि मालाके दोनोंमें सूतको तरह क्षणोंमें अस्तित्वरूप एकत्व न माननेपर उनमें सन्तान, साकृत्य, समृद्धय और प्रत्यभाव आदि नहीं बन सकते, क्योंकि क्षणोंका एक-सूतरे से एकत्वरूप सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त उन और ज्ञेय इन दोनोंको 'सत्' की जपेक्षासे भी भिन्न माननेपर दोनों ही असत् हो जावेंगे। और उस हारकतमें न ज्ञानकी स्थिति रहेगी और न बाह्य तथा अस्तस्तत्त्वरूप आम्यन्तर ज्ञेय ही बन सकेगा। बच्चोंसे भी उनकी स्थिति नहीं रोपी जा सकती है, क्योंकि बच्चन सामाज्य (अस्यापौह) मानको कहते हैं, जो अवस्थु है, विदेश (स्वलक्षणात्मक बस्तु) को नहीं और ऐसी दशामें समस्त बच्चन धर्मार्थतः बस्तुके वाचक न होनेसे मिथ्या (ब्रह्मत्व) ही है।

कारिका ३२ के हारा बस्तुको सर्वथा एक और सर्वथा अनेक दोनों (उभय) रूप ब्रह्मीकार करनेपर विरोध तथा अवाक्य (अनुभव)

स्वीकार करनेपर 'अकाश्य' शब्द हारा भी उसका निर्देशन न हो सकनेका दोष प्रवर्णित किया गया है।

३३-३६ तक ४ कारिकाओं द्वारा स्थादादनय (कथलिङ्गहार) से एक और अनेकके विरोधी युगलकी अपेक्षासे सप्तभज्जीकी योजना करके वस्तुमें कर्वणित् एक और कर्वणित् अनेकके अनेकान्तकी स्थापना की गई है।

इस प्रकार दूसरे परिच्छेदमें एक (अद्वित) और अनेक (हैत) के बारेमें रुद्ध एकान्त वारणाओंकी समालोचना करके इस युगलकी अपेक्षा वस्तुको सप्तभज्जात्मण (अनेकान्तरूप) सिद्ध किया गया है।

तृतीय परिच्छेद :

तृतीय परिच्छेदमें ३७-६० तक २४ कारिकाएँ हैं। ३७-४० तक चार कारिकाओं द्वारा सांख्यवर्णनके एकान्त नित्यवादको आलोचनामें कहा गया है कि प्रश्नान एवं पुरुषको सर्वथा नित्य स्वीकार करनेपर उनमें किसी भी प्रकारके विकारकी सम्भावना नहीं है; क्योंकि उत्पत्तिसे पूर्व न किसीको कारण कहा जा सकता है और न ज्ञातिसे पूर्व किसीकी प्रमाण कहा सकते हैं। बकारकस्वभाव छोड़कर कारक-स्वभाव महण करने स्पष्ट उत्पत्ति होनेके बाद कारण और अन्नापकस्वभाव छोड़कर कापकस्वभाव ग्रहण करनेरूप अन्ति होनेके अनन्तर आपक (प्रमाण) व्यवहार होता है। एकरूप रहनेके कारण एकान्त नित्य (प्रश्नान व पुरुष) से किसीकी उत्पत्ति अथवा ज्ञाति आदिरूप कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है और इसलिए उसे न कारण कहा जा सकता है और न प्रमाण। हनियोंसे जैसे खटादि अर्थकी अभिव्यक्ति होती है वैसे ही प्रधानरूप कारण या प्रमाणसे ग्रहदादिकी अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकारकी मान्यता भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण तथा कारण दोनोंस्पष्ट प्रश्नान सर्वथा नित्य होनेसे उसका अभिव्यक्तिके लिए भी व्यापार सम्भव नहीं है। अन्यथा अभिव्यक्तिसे पूर्व रहनेवाले अनभिव्यक्तक स्वभावको छोड़ने तथा अन्यक स्वभावको ग्रहण करनेरूप अवस्थान्तरको प्राप्त करनेसे उसे अनित्य मानना पड़ेगा। बताये गए प्रश्नानसे अभिव्यक्त्य (विकार्य)

भी नहीं हो सकते। इसी तरह एकान्त नित्य पक्षमें पुरुषकी तरह सत्कार्यकी न उत्पत्ति सम्भव है और न अभिव्यक्ति, क्योंकि सदा विद्यमान रहनेसे उसमें किसी भी तरहका परिणमन (परिवर्तन), अथवा अस्तित्वरूप हो और चाहे अभिव्यक्तिरूप, नहीं बन सकता है। पुण्य, पाप, प्रेत्यभाव (पर्यायान्तर), सम्बन्ध और सोक्ष ये सब परिणाम भी एकान्त नित्य (अपरिणामी पुरुषबाद) में सम्भव हैं। नित्य जब सदा एकरूप (कूटस्य) रहेगा तो उसमें कोई विकृति नहीं हो सकती। तथा विना विकृतिके पुण्यपापादि, जो भिन्न कालोंमें होनेवाली अवस्थायिवेष हैं, कौसे सम्भव हैं, यह विचारणीय है।

४१—५४ तक चउदह कारिकालों द्वारा एकान्त अनित्यपक्ष (क्षणिकबाद) में दोष दिये गये हैं। कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा अनित्य (क्षणिक) स्वीकार करनेपर भी उस प्रेत्यभावादि नहीं बन सकते, क्योंकि पूर्वपर क्षणोंमें परस्पर अन्वय (श्रौत्यास्मक ऋष्वन-कड़ी) न होनेके कारण प्रत्यभिज्ञा, स्मरण, अनुभव, अभिलाषा आदि ज्ञानधारा प्रवाहित नहीं हो सकती। ऐसी दशामें न पूर्व क्षणको कारण और न उत्तर क्षणको कार्य कहा जा सकता है। सर्वथा क्षणिकबादमें न असत्कार्यकी उत्पत्ति, न कार्यकारणभाव, न हिस्यहियकभाव, न गुरुशिष्यभाव, न पति-पत्नीभाव, न मातृपुत्रभाव, न बहुमुक्तभाव और न एकल्बसन्ततियाँ ही बन सकती हैं।

५५ के द्वारा सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य दोनों (उभयकान्त) के स्वीकारमें दिरोध और न सर्वथा नित्य तथा न सर्वथा अनित्य दोनोंके निषेधरूप (अनुभयेकान्त) में 'अवाक्य' शब्दसे उसका कथन न कर सकने-का दोष प्रदर्शित किया गया है।

५६—६० तक ५ कारिकालों द्वारा स्माधादनयसे वस्तुको कथाच्छित् नित्य, कथाच्छित् अनित्य, कथाच्छित् उभय, कथाच्छित् अनुभय आदि समसज्जात्मक अनेकान्त सिद्ध किया है। इस प्रकार इस परिच्छेदमें नित्यानित्यके विरोधी मुगलकी अपेक्षा पूर्ववत् सप्तमझी दिखायी गई है। उल्लेखनीय है कि दो महत्वपूर्ण दृष्टान्तों (लौकिक एवं लोकोत्तर)

द्वारा भी वस्तुमें निश्चयता (प्रौढ़ी) और अनिश्चयता (उत्पाद-व्यय) दोनोंको प्रतीतिसिद्ध बतालाया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद :

चौथे परिच्छेद में ६१-७२ तक १२ कारिकाएं हैं, जिनके द्वारा भेद और अभेदका विचार किया गया है। ६१-६६ तक ५ कारिकाओंमें भेद (अन्यता) वाली देवकोंकी एकान्त भेद-मान्यताकी समीक्षा की गई है। कहा गया है कि यदि कार्य और कारणमें, गुण और गुणीमें तथा सामान्य और सामान्यवालों (द्रव्य-सुष-कर्म) में सर्वथा अन्यता (भेद) माना जाय तो एक (कार्य—अवयवी आदि) का अनेकों (कारणों—अवयवों आदि) में रहना (वृत्ति) सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रश्न उठता है कि वह एक अनेकोंमें प्रत्येकमें अंश-रूपसे रहता है या सम्पूर्णरूपसे? प्रश्न पक्ष तो ठीक नहीं, कारण कि उस एकके अंशोंको नहीं माना है—उसे निरेक स्वीकार किया गया है। शिरीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जितने कारण (अवयव) होंगे उसने ही कार्य (अवयवी) मानना पड़ेगे। यदि उस एक (अवयवी) में अंश-रूपसा करें, जो यवार्थमें स्वकीय सिद्धान्त-विद्व है, तो फिर उसे एक कैसे कहा जा सकता है—उसे सांश (अनेक) ही प्रतिपादन करना चाहिए। इस तरह सर्वथा भेदवादमें यह वृत्ति-दोष अनिवार्य है—जिसे दूर नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार इस भेद-वादमें सामान्य व समवायसम्बन्धकी, जिन्हें भिन्न पदार्थ स्वीकार किया है, अपने आश्रयोंमें बुलि नहीं बनती। कारण यह है कि जिन नाशशील एवं उत्पादशील व्यक्तियों (बठ्टपट-गौ आदि) में उन दोनोंकी स्थिति स्वीकार की जाई है उनके नाश या उत्पाद होनेपर उन दोनोंका न नाश होता है और न उत्पाद। ऐसी स्थितिमें आश्रयके बिना आश्रयी (सामान्य तथा समवाय) कही और कैसे रहेंगे? जब कि उन्हें प्रत्येक व्यक्तिमें सम्पूर्ण रूपसे रहनेवाला तथा नित्य और निष्क्रिय माना गया है। निष्क्रिय द्वानेसे वे नाशशील व्यक्तिके नाश और उत्पादशील व्यक्तिके उत्पादके समय अन्यत्र (दूसरे व्यक्तियोंमें) जा नहीं सकते तथा नित्य होनेसे वे व्यक्तिके साथ न नष्ट हो सकते हैं और न उत्पन्न। अतः

उनका विधान 'इविभासे दोनों गये मात्रा मिली न राज' कहावतको अरितार्थ करता है। अर्थात् सामान्य और समवाय दोनोंकी स्थिति भेदभावमें इबौद्धल है। इसके अतिरिक्त सामान्य और समवायमें परस्पर सम्बन्ध सम्भव न होनेसे उनसे प्रभ्य, गुण और कर्मका भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। सामान्य और समवायमें परस्पर सम्बन्ध क्यों सम्भव नहीं है? इसका कारण यह है कि वे द्रव्य न होनेसे उनमें संयोगसम्बन्ध तो स्वयं वैशेषिकोंको भी इष्ट नहीं है। समवाय भी उनमें सम्भव नहीं है, क्योंकि उन्हें अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि रूपमें स्वीकृत नहीं किया गया। 'सामान्य-समवाय'—सामान्य समवायवाला है, इस प्रकारसे उनमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्धकी भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि एक समवायके सिवाय अन्य समवायान्तर वैशेषिकोंने नहीं माना। कल्पवा अनवस्था दोषसे वह मुक्त नहीं हो सकता है। ही, उनमें एकार्थसमवायकी कल्पना की जा सकती थी, पर वह भी नहीं की जा सकती, क्योंकि घटस्वादि सामान्य घटादिमें समवायसे रह जानेपर भी समवाय उनमें सम्भव नहीं है। स्पष्ट है कि वैशेषिकोंने समवायके रहनेके लिए अन्य समवाय नहीं स्वीकार किया—एक ही समवाय उन्होंने माना है। इस तरह अब सामान्य और समवाय दोनोंमें परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है तो वे असम्भव रहकर द्रव्यादिसे सम्बन्धित नहीं हो सकते। फलतः तीनों (सामान्य, समवाय और द्रव्यादि) बिना सम्बन्धके अपूर्ण तुल्य छहरते हैं।

वैशेषिकोंमें कोई परमाणुओंमें पाक (अग्निसंयोग) होकर द्रष्टव्यकादि अवयवीमें क्रमशः पाक मानते हैं और कोई परमाणुओंमें किसी भी प्रकारकी विकृति न होनेसे उनमें पाक (अग्निसंयोग) न मानकर केवल द्रष्टव्यकादि (अवयवी) में पाक स्वीकार करते हैं। जो परमाणुओंमें पाक नहीं मानते उनका कहना है कि परमाणु नित्य (अग्रचयुत-अनुत्पन्न-स्थिरकरूप) हैं और इसलिये वे द्रष्टव्यकादि सभी अवस्थाओंमें एकरूप रहते हैं—उनमें किसी भी प्रकारकी अन्यता (भिन्नरूपतारूप परिणति) नहीं होती उनमें सर्वदा अन्यता (एकरूपता) विद्यमान रहती है। इसी (किसी वैशेषिकोंकी) मान्यताको आप समन्वयभद्रने 'अणुओंका अनन्यतेकान्त'

कहा है और कारिका ६७ के द्वारा उसको भी समीक्षा की है।^१ उन्होंने इस मान्यतामें दोषोद्घाटन करते हुए बताया है कि यदि अणु तृष्णुकादि मन्त्रात्मवशामें भी उसी प्रकारके बने रहते हैं जिस प्रकार वे विभवमें समय है; (क्योंकि उनमें अन्यता मिल्लरूपता नहीं होती, अन्यथा उनमें अनिवार्यताका प्रसंग आयेगा), तो वे असंहत (अभिश—विना मिले) ही रहेंगे और उस हालतमें अवयवीरूप पृथिवी आवि चारों भूत भावन्त (मिथ्या) ही होंगे । और जब पृथिवी आदि अवयवीरूप कार्य भावन्त छहरते हैं तो उनके जनक परमाणु भी भावन्त स्वतः सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि कार्य निश्चय ही अनुरूप कारणकी ही सूचना करता है । इस तरह वैशेषिकोंके अनन्यतैकान्तरमें न वास्तविक पृथिव्यादिरूप अवयवी अनुसा है और न वास्तविक उनके कारणरूप परमाणु ही सिद्ध होते हैं तथा इन दोनोंके न बननेपर उनमें रहनेकाले गुण जाति (सामान्य), विशेष समवाय और कर्म ये कोई भी पदार्थ बटित नहीं होते ।

आगे कारिका ६८के द्वारा सांख्यकि अनन्यतैभावन्त (अभेदेकान्त)की भी आलोचना करते हुए कहा गया है कि यदि कार्य (महदादि) और कारण (प्रधान) दोनोंमें सर्वथा अनन्यता (अभेद) हो, तो उनमेंसे एकका अस्तित्व रहेगा, दूसरेका अभाव हो जायेगा । फलतः वह एक भी दूसरेका अविभागी होनेसे उसके अभावमें न रह सकेगा । इसके अतिरिक्त इस अभेदेकान्तमें कार्य और कारणकी लोकप्रसिद्ध द्वित्वसंख्या कभी भी उपलब्ध न होगी । यदि उसे संवृत्तिसे माना जाय तो वह संवृत्ति मिथ्या ही है और इसलिए संवृत्ति तथा शून्यता दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है ।

कारिका ७० के द्वारा सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद दोनोंके स्वीकारमें विरोध तथा न सर्वथा भेद और न सर्वथा अभेद अर्थात् अनुभव (अवाक्षय) माननेमें 'अवाक्षय' शब्द द्वारा भी उसका निरूपण न हो सकनेका दोष प्रदर्शित किया गया है ।

१. अष्टसहस्री (प० २२२) में इस ६७की कारिकाके उल्थानिकावाक्यके आरम्भिक 'अपरः प्राह' पदपर टिप्पण देते हुए टिप्पणकरने जो उसका अर्थ 'सौगतः' दिया है वह ठीक नहीं है । यहाँ सारा सन्दर्भ वैशेषिकोंका है, सौगतोंका नहीं ।

७१-७२ द्वारा उन अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आविष्यें कथञ्चित् भेद, कथञ्चित् अभेद आदि सप्तभज्जी-प्रक्रियाकी योजना करके उनमें अनेकान्त सिद्ध किया है और यह दिखाया है कि किस तरह उनमें अभेद (एकत्र) है और किस तरह उनमें भेद (नामात्म) आदि है ।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें भेद और अभेदको लेकर विभिन्न वादियों द्वारा मान्य भेदेकान्त, अभेदेकान्त आदि एकान्तोंकी आलोचना और स्याद्वादनयसे उनमें अनेकान्तकी व्यवस्था को गई है ।

पञ्चम परिच्छेद :

इस परिच्छेद में ७३-७५ तक तीन कारिकार्यों द्वारा उन वादियों-की मीमांसा करते हुए जैन दृष्टि प्रस्तुत की गई है जो सर्वथा अपेक्षासे या सर्वथा अनपेक्षा आदिसे वस्तुस्वरूपको सिद्ध मात्ते हैं । कारिका ७३ में कहा गया है कि यदि धर्म और धर्मीको, विशेषण और विशेष्यकी, कार्य और कारणकी तथा प्रमाण और प्रमेय आविष्यकी सिद्धि सर्वथा अपेक्षासे मानी जाय तो उनकी कभी भी व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि वे उसी प्रकार अन्योन्यावित रहेंगे जिस प्रकार किसी नक्षीपे ढूबते हुए दो तैराक एक दूसरेके आश्रय होते हैं और फलतः दोनों ही ढूब जाते हैं । यदि उनकी सिद्धि सर्वथा अनपेक्षासे (स्वतः) ही स्वीकार की जाय तो अमुक कार्य-कारण है, अमुक धर्म-धर्मी है, अमुक विशेषण-विशेष्य हैं, अमुक प्रमाण-प्रमेय हैं और अमुक सामान्य-विशेष है, इस प्रकारका व्यवहार नहीं बन सकेगा, क्योंकि ये सब व्यवहार परस्परकी अपेक्षासे होते हैं ।

कारिका ७४ में सर्वथा उभयवादियोंके उभयेकान्तमें विरोध और सर्वथा अनुभयवादियोंके अनुभयेकान्तमें 'अनुभय' शब्द द्वारा भी कथन न हो सकनेका दोष दिया गया है ।

७५ द्वारा स्याद्वादनयसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि प्रदर्शित की गई है । कहा गया है कि धर्मधर्मिभाव, कार्यकारणभाव, विशेषणविशेष्यभाव और प्रमाणप्रमेयभावका व्यवहार तो अपेक्षासे सिद्ध होता है । परम्तु उनका स्वरूप स्वतः सिद्ध है । यथार्थमें कार्यमें कार्यता, कारणमें कारणता, प्रमाणमें प्रमाणता, प्रमेयमें प्रमेयता आदि स्वयं सिद्ध है वह परापेक नहीं

है। अन्यथा किसी भी वस्तुका अपना स्वरूप नहीं बन सकेगा। जैसे कलिका स्वरूप कमपेक्षा और कर्मका स्वरूप करपेक्षा नहीं है तथा बोधकका स्वरूप बोधपेक्षा और बोधयका स्वरूप बोधकपेक्षा नहीं है। पर उनका व्यवहार अवश्य परस्पर-सापेक्ष है। उसी प्रकार भर्मघर्मी आदिका स्वरूप तो स्वयं सिद्ध है किन्तु उनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है। इस तरह इस परिच्छेदमें अपेक्षा और अनपेक्षाके विरोधी युगलमें भी सप्तभज्जीकी योजना करके अनेकान्तकी अवश्या की गई है।

षष्ठ परिच्छेद :

षष्ठ परिच्छेदमें ७६—७८ तक तीन कारिकाओं द्वारा हेतुवाद और अहेतुवादकी एकान्त मान्यतावालीमें दोषोदादान करते हुए उनमें सप्तभज्जी-योजनापूर्वक समव्यय (अनेकान्तवात्मक) किया गया है।

कारिका ७६ में सर्वथा हेतुवादसे वस्तुसिद्धि मालने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे वस्तुज्ञानके अभावका प्रसङ्ग तथा आगमसे सर्वसिद्धि स्वीकार करनेपर परस्पर विशद्ध सिद्धान्तोंके प्रतिपादक वचनोंसे भी विरोधी तत्त्वोंकी सिद्धिका प्रसङ्ग दिया गया है।

कारिका ७७ में पूर्ववत् उभयीकान्तमें विरोध और आवाच्यतैकान्तमें 'आवाच्य' शब्दहुआरा भी उसका निर्वचन न कर सकनेका दोष प्रदर्शित है।

इस परिच्छेदकी अन्तिम ७८ वीं कारिकामें हेतुवाद और अहेतुवाद दोनोंसे वस्तुसिद्धि होनेका निर्वेष करते हुए सप्तभज्जात्मक अनेकान्त प्रदर्शित किया गया है। कहा गया है कि जहाँ आप बक्ता न हो वहाँ हेतुसे साध्यकी सिद्धि की जाती है और उस सिद्धिको हेतु-साधित कहा जाता है तथा जहाँ आप बक्ता हो वहाँ उसके बचतसे वस्तुकी सिद्धि होती है और वह सिद्धि आगम-साधित कही जाती है। इस प्रकार वस्तु-सिद्धिका वज्र उपायतत्त्व (हेतुवाद और अहेतुवाद) भी अनेकान्तवात्मक है।

सप्तम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें ७९—८१ तक ९ कारिकाएँ हैं, जिनके द्वारा शानेकान्त और बाह्यानेकान्त आदि एक-एक एकान्तोंके स्वीकार करनेमें धानेवाले दोषोंको दिखलाते हुए निर्विध अनेकान्तकी स्थापना की गई है।

कारिका ७९ के द्वारा बतलाया गया है कि यदि सर्वथा ज्ञानतत्त्व ही हो, तो हाँ अर्थ न हो तो सभी बुद्धियों और सभी वचन मिथ्या हो जायेंगे, क्योंकि दोनोंका प्रमाणण वास्तु अर्थपर निर्भर है। जिनका ज्ञान वाहार्थ सत्य निकलता है उन्हें प्रमाण और जिनका सत्य नहीं निकलता उन्हें प्रमाणाभास कहा जाता है। परन्तु ज्ञानकास्तवादमें वाहार्थको स्वीकार न करनेके कारण किसी भी बुद्धि और किसी भी वचनकी प्रमाणताका निष्पत्य नहीं हो सकता और इसलिये उन्हें मिथ्या ही कहा जायेगा और जब वे मिथ्या हैं तो वे प्रमाणाभासकी कोटिमें प्रविष्ट हैं। किन्तु बिना प्रमाणके उन्हें प्रमाणाभास भी कैसे कहा जा सकता है। सात्पर्य यह कि सर्वथा ज्ञानतत्त्वके ही स्वीकार करनेपर प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही नहीं बनते और उनके न बननेपर किस तरह ज्ञानमात्रको वास्तविक और वाहार्थको अवास्तविक सिद्ध किया जा सकता है।

८० के द्वारा साक्ष्य और यात्रान्तर्मी विज्ञानसे विज्ञानिकतत्त्वकी हितिके प्रयासको भी निरर्थक बतलाया गया है, क्योंकि उन्हें प्रकारसे सिद्धि करने पर प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष आते हैं। स्पष्ट है कि विज्ञान-ज्ञानतत्त्वको ज्ञानने वालोंके पहुँच न साक्ष्य है और न हैतु। अन्यथा हीत-का प्रसङ्ग जायेगा।

८१ के द्वारा उन्हें दोष दिया गया है जो केवल वाहार्थ स्वीकार करते हैं, अन्तरज्ञार्थ (ज्ञान) को नहीं मानते। कहा गया है कि यदि सर्वथा वाहार्थ ही हो, ज्ञान न हो, तो न संशय होगा, न विपर्यय और न अनन्यवसाय। इतना ही नहीं, सत्यासत्यका निर्णय भी नहीं किया जा सकेगा। फलतः जो विरोधी अर्थका प्रतिपादन करते हैं उनके भी मोक्षार्थि कार्योंको सिद्धि हो जाएगी। इसके अतिरिक्त स्वप्नबुद्धियोंका स्वार्थके साथ सम्बन्ध न होनेसे उन्हें असंवादी नहीं कहा जा सकेगा।

कारिका ८२ के द्वारा सर्वथा उभयवादमें विरोध और सर्वथा अनुभय-वादमें 'अनुभय' शब्दसे भी उसका कथन न हो सकतेका दोष पूर्णतः दिखाया गया है।

कारिका ८३ द्वारा स्याद्वादसे वस्तुव्यवस्था करनेपर कोई दोष नहीं आता, यह विचलाते हुए कहा गया है कि स्वरूपसंबोधमवली अवैतन भोग्य

जान प्रमाणाभास नहीं है। पर बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों हैं। जिस जानका बाह्य प्रमेय जात होनेके बाव वही उपलब्ध होता है वह प्रमाण है तथा जिसका बाह्य प्रमेय जात होनेके बाद वही उपलब्ध नहीं होता, अपितु अन्य मिलता है वह प्रमाणाभास है। इस तरह स्वरूपसंवेदनकी व्यपेक्षा इसी जान प्रमाण है कोई प्रमाणाभास नहीं है। किन्तु बाह्य प्रमेयकी सत्यतासे प्रमाण और असत्यतासे प्रमाणाभास है। अतः प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था अन्तरङ्गाम (जान) और बाह्यार्थ द्वेषोंको स्वीकार करनेसे होती है, किसी एकसे नहीं। यही अनेकान्तरूप वस्तुतत्त्व है जिसमें स्पष्टतासे उक्त प्रकार व्यवस्था होती है।

कारिका ८४ के द्वारा उन (बीड़ों) का समाचार किया गया है जो बाह्यार्थ नहीं मानते, केवल उसकी शास्त्रिक (काल्पनिक) प्रतीति स्वीकार करते हैं। उनके लिए कहा गया है कि कोई भी शब्द क्यों न हो, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है। उदाहरणार्थ जीवशब्दको ही लीजिए, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य है क्योंकि वह एक संज्ञा है। जो संज्ञा होती है उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है, जैसे हेतुशब्द अपने वाच्य हेतुरूप बाह्यार्थको लिए हुए है। यह भी उल्लेखनीय है कि जीवशब्दका प्रयोग शरीरमें या इन्द्रियों आदिके समूहमें नहीं होता, क्योंकि ऐसी लोक-रूढ़ि नहीं है। 'जीव गया, जीव मौजूद है' इस प्रकारका जिसमें व्यवहार होता है उसीमें यह लोकरूढ़ि नियत है। कोई भी अस्ति यह व्यवहार न करीरमें करता है, क्योंकि वह अचेतन है, न इन्द्रियोंमें करता है, क्योंकि वे मात्र उपभोगकी साधन हैं और न शब्दादि विषयोंमें करता है, क्योंकि वे भोग्य रूपसे व्यहृत होते हैं। वह तो भोक्ता आत्मामें 'जीव' यह व्यवहार करता है। अतः 'जीव' शब्द जीवरूप बाह्यार्थ सहित है। माया, अविद्या, अप्रमा आदि जो भास्त्वसूचक संज्ञायें हैं वे भी माया, अविद्या, अप्रमा आदि अपने भावात्मक अर्थोंसे सहित हैं। जैसे प्रमाणेज्ञा अपने प्रमाणरूप अर्थसे सहित है। इन संज्ञाओंको मात्र वक्ताके अभिप्रायकी सूचिका भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि औत्तराओंकी जो उन संज्ञाओं (मायों) को सुनकर उसन्देश अर्थक्रियामें प्रवृत्तिका नियम देखा जाता है वह अभिप्राय-

से सम्मिलन नहीं है। अतः संज्ञाओं (शब्दों) को अभिप्रायका सूचक नहीं मानना चाहिए, किन्तु उन्हें सत्यार्थ (वाक्यार्थ) का सूचक स्त्रीकार करना चाहिए ।

बगली १५०० तरह तीन वाचिकाओं का हाता अन्तराल अपने लकड़ी कथनका सबल समर्थन करते हुए प्रतिपादन करते हैं कि प्रत्येक वस्तुकी तीन संज्ञायें होती हैं। बुद्धिसंज्ञा, शब्दसंज्ञा और अर्थसंज्ञा। तथा ये तीनों संज्ञायें बुद्धि, शब्द और अर्थ हैं। इन तीनकी क्रमवाली वाचिका है और तीनोंसे श्रोताको उनके प्रतिक्रियात्मक बुद्धि, शब्द और अर्थरूप तीन बोध होते हैं। अतः 'जीव' यह शब्द वेदल जीवबुद्धि या जीवशब्दका वाचक न होकर जीवअर्थ, जीवशब्द और जीवबुद्धि इन तीनोंका वाचक है। वास्तवमें उनके प्रतिक्रियात्मक तीन बोध होनेसे उन तीनों संज्ञाओंके वाक्यार्थ तीन हैं, यह व्याप देनेपर स्पष्ट हो जाता है। तात्पर्य मह कि प्रत्येक पदार्थ तीन प्रकारका है—बुद्धिगत्मक, शब्दगत्मक और अर्थगत्मक। और तीनोंकी वाचिका तीन संज्ञायें हैं, जिनका उल्लेख उमर किया जा चुका है और इस तरह समस्त संज्ञायें (शब्द) अपने अर्थ सहित हैं।

यद्यपि विज्ञानवादीके लिए उपर कहा गया हेतु (संज्ञा होनेसे) असिद्ध है, क्योंकि उसके यही विज्ञानके अलावा संज्ञा (शब्द) नहीं है। उसके लिए प्रम्यकार कहते हैं कि जब हम कुछ कहते या सुनते या जानते हैं तो हम वक्ता, श्रोता या प्रमाता कहे जाते हैं और ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं। तथा इन तीनोंके हीम कार्य भी अलग-अलग होते हैं। वक्ता अभिव्येकका ज्ञान करके वाक्य बोलता है, श्रोता उसको अवगत कर उसका बोध करता है और प्रमाता शब्द और अर्थरूप प्रमेयकी परिच्छिसि (प्रमा) करता है। ये तीनों ही उन तीनोंके विलक्षण जुदे-जुदे कार्य हैं। विज्ञानवादी इन अनुभवसिद्ध पदार्थोंका अपश्लेष करनेका साहस कैसे कर सकता है। ऐसी दशामें वह हेतुको असिद्धादि शोषणसे युक्त नहीं कह सकता। यदि वह इन अनुभवसिद्ध पदार्थों (अभिव्येक, अभिव्येकके ग्राहक वक्ता और श्रोता) को विभ्रम कहे तो उसका विज्ञान-वाद और साधक प्रमाण भी विभ्रम कोठिमे आनेसे कैसे बच सकते हैं।

और प्रमाणके विभ्रम होनेपर उसे जो इष्ट अन्तर्जय (शाम) है वह और जो उसे इष्ट नहीं है ऐसा वहिङ्गेय दोनों ही, जिसे लादण (प्रमाणस्य) और इतर—अन्यादृश (अप्रमाणस्य) माना जाता है, विभ्रम ही सिद्ध होगी । ऐसी हालतमें सर्वथा विज्ञानवादमें हेयोपादेयका लक्ष्यज्ञान नीते हो सकता है ?

यदि प्रभाणकी अन्तर्जात कहे जो उसके रिए नाराधार्मिक इतीकार आवश्यक है । उसके बिना प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था सम्पन्न नहीं है; क्योंकि उन्हीं शान्ते तथा शब्दोंमें प्रमाणता होती है जिनका बाह्यार्थ होता है और जिनका बाह्यार्थ नहीं होता उन्हें प्रमाणाभास माना जाता है । यथार्थमें जिस बुद्धिका ज्ञात अर्थ प्राप्त होता है उसे सत्य और जिसका ज्ञात अर्थ प्राप्त नहीं होता उसे असत्य कहा जाता है । इसी प्रकार जिस शब्दका अभिहित अर्थ मिलता है वह सत्य और जिसका अभिहित अर्थ नहीं मिलता उसे असत्य माना जाता है । इस प्रकार बाह्यार्थके सम्भाव और असम्भावमें ही बुद्धि और शब्द अपाण एवं प्रमाणाभास कहे जाते हैं । सर्वथा अनेकान्तरमें यह प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था सम्पन्न नहीं है । अतः उक्त प्रकारसे बाह्यार्थ अवश्य सिद्ध होता है और उसके सिद्ध हो जानेपर बक्ता भावि तीन और उनके बोधादि तीन भी सिद्ध हो जाते हैं । अतएव उक्त 'संकाल' हेतु असिद्धादि दोष युक्त नहीं हैं ।

इस प्रकार 'इस परिच्छेदमें ज्ञापकोणमतत्वमें भी सप्तभूमीकी योजना करके उसे स्थाप्ताइनयसे अनेकान्तरात्मक सिद्ध किया गया है ।

अष्टम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें ८८-९१ तक चार कारिकारें हैं । ८८वीं कारिकारें हारा सर्वथा देववादकी मान्यतामें दोष कियागये हुए कहा है कि यदि एकान्तरः देवसे ही इष्टानिष्ट वस्तुओंकी निष्पत्ति स्वीकार की जाए तो उनका निष्पादक देव किससे निष्पत्ति होता है, यह प्रश्न उपस्थित होता है ? उसकी निष्पत्ति पौरवसे तो मानी नहीं जा सकती, क्योंकि 'सब पदार्थोंकी सिद्धि देवसे ही होती है' इस मान्यतामें समाचित ही जाती है ।

यदि उसकी निष्पत्ति अन्य दैवसे कही जाय तो मोक्ष कभी किसीको हो ही नहीं सकेगा, क्योंकि वह अन्य दैव पूर्व दैवसे उत्पन्न होगा और वह पूर्व दैव भी और पूर्ववर्ती दैवसे होगा और इस तरह पूर्व-पूर्व दैवोंका जहाँ तांता बना रहेगा वही पौरुष निष्कल सिद्ध होगा।

८९ वीं कारिकाके द्वारा सर्वथा पौरुषवादको भी दोषपूर्ण बतलाते हुए कहा गया है कि यदि सर्वथा पौरुषसे ही सभी इष्टानिष्ठ वस्तुओंकी निष्पत्ति हो तो पौरुष किससे उत्पन्न होता है, यह बताया जाय? दैवसे तो उसकी उत्पत्ति कही नहीं जा सकती; क्योंकि 'पौरुषसे ही सब पदार्थोंकी सिद्धि होती है' यह प्रतिशा हट जाती है। अमर अन्य पौरुषसे उसकी निष्पत्ति कही जाय तो किसी भी प्राणीका पौरुष (प्रयत्न) निष्कल नहीं होना चाहिए— सभीका पौरुष सफल होना चाहिए। पर ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। कहा दैवकान्तकी उत्तर पौरुषकान्त मई सदाचार है और इसलिए वह भी आहु नहीं है।

कारिका ९० के द्वारा उभयेकान्तमें विरोध और अनुभवीकान्तमें 'अनुभव' एवंसे भी उसका प्रतिपादन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् बताया गया है।

कारिका ९१ के द्वारा स्पादादसे पदार्थोंकी सिद्धि की गई है। जहाँ इष्टानिष्ठ वस्तुओंका समागम बुद्धिव्यापारके बिना मिलता है वही उनकी प्राप्ति दैवसे है और जहाँ उनका गमागम बुद्धिव्यापारपूर्वक होता है वही पौरुषकृत है।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें दैवकान्त, पौरुषेकान्त आदि एकान्तोंको नुटिपूर्ण बतलाते हुए उनमें स्पादादसे वस्तुसिद्धिकी व्यवस्था की गई है और यही भी पूर्ववत् सप्तभज्ञीकी प्रोजना दिखलाई है।

नवम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें एकले परिच्छेदमें वर्णित दैवकारकोपायसत्त्वके पुण्य और पाप ये दो भेद करके उनकी स्थितिपर विचार किया गया है। पुण्य

किन कारणोंसे होता है और पाप किन बातोंसे, यही इस परिच्छेदका विषय है, जिसकि पुण्य और पापके सम्बन्धमें भी एकान्तिक मान्यताएँ हैं।

इसमें चार कारिकाएँ हैं। ५२ वीं कारिकाके द्वारा उस मान्यताकी समीक्षा की है जिसमें दूसरेसे दुःख उत्पन्न करनेसे पाप बन्ध और सुख उत्पन्न करनेसे पुण्य बन्ध स्वीकृत है। पर यह मान्यता युक्त नहीं है, जिसकि ऐसा माननेपर दूष आदि दूसरेमें सुख तथा कष्टकादि दुःख उत्पन्न करनेके कारण उनके भी पुण्यबन्ध और पापबन्ध मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि बेतन ही बन्धयोग्य है, अचेतन दुरधादि एवं कष्टकादि नहीं, तो वीतराग (कथाय रहित) भी पुण्य और पापसे बँधेंगे, क्योंकि वे अपने भक्तोंमें सुख और अभक्तोंमें दुःख उत्पन्न करनेमें निमित्त पड़ते हैं। यदि कहा जाय कि उनका उन्हें सुख-दुःख उत्पन्न करनेका अभिप्राय न होनेसे उन्हें पुण्य-पापबन्ध नहीं होता तो 'परमे सुख उत्पन्न करनेसे पुण्य और दुःख उत्पन्न करनेसे पाप बन्ध होता है' यह एकान्त मान्यता नहीं रहती।

९३वीं कारिकाके द्वारा उन बादियोंकी भी मीमांसा की है जो कहते हैं कि अपनेमें दुःख उत्पन्न करनेसे तो पुण्य और सुख उत्पन्न करनेसे पापका बन्ध होता है। कहा गया है कि ऐसा सिद्धान्त माननेपर बीतराग मुनि और विद्वान् मुनि सी क्रमशः कायदेशादि दुःख तथा तस्वारमादि सुख अपनेमें उत्पन्न करनेके कारण पुण्य-पापसे बँधेंगे। फलतः वे कभी भी संसार-बन्धनसे छुटकारा न पा सकेंगे। अतः यह एकान्त भी संगत प्रसीद नहीं होता।

९४ के द्वारा उभयकान्तमें विरोध और अनुभयकान्तमें 'अनुभय' शब्दसे भी उसका निर्वचन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् प्रदर्शित किया गया है।

कारिका ९५ के द्वारा स्थानादसे पुण्य और पापकी व्यवस्था की गई है। युक्तिपूर्वक कहा गया है कि सुख-दुःख, चाहे अपनेमें उत्पन्न किये जायें और आहे परन्तु। यदि वे विषुद्धि (शुभ परिणामों) अथवा संकलेश (अशुभ परिणामों) से पैदा होते हैं या उन परिणामोंके जनक हैं तो

कमशः उनसे पुण्यास्थव और पापास्थव होता है। यदि ऐसा नहीं है तो जो दोष ऊपर दिया गया है उसका होना दुर्निवार है। यथार्थमें पुण्य और पाप अपनेको या परको सुख-दुःख जीवने गालसे नहीं होते हैं। लगभग अपने शुभाशुभ परिणामोंपर उनका होना निर्भर है। जो सुख-दुःख शुभ परिणामोंसे जन्म्य है या उनके जनक हैं उनसे तो पुण्यका आस्थव होता है और जो अशुभपरिणामोंसे जन्म्य या उनके जनक हैं वे नियमसे पापास्थवके और कारण या कार्य हैं। यह बस्तुब्यवस्था है। इस प्रकार स्यादादमें ही पुण्य पापकी ब्यवस्था बनती है, एकान्तवादमें नहीं।

दृश्य परिच्छेद :

इस अन्तिम परिच्छेदमें १६-११४ तक बीस कारिकार्यें हैं। कारिका १५ के हारा सार्वजनिके उस सिद्धान्तकी समीक्षा की गई है जिसमें कहा गया है कि 'अज्ञानसे बन्ध होता है और ज्ञानसे मोक्ष'। परन्तु यह सिद्धान्त युक्त नहीं है, कर्तोंकि ज्ञेय अमन्त हैं और इसलिए किसी-न-किसी ज्ञेयका अज्ञान बना रहेगा। ऐसी स्थितिमें कभी भी कोई पुण्य केवली नहीं हो सकता। इसी प्रकार अस्पत्तान (प्रकृति-पुण्यका विवेक मात्र) से मोक्ष जानना भी युक्त नहीं है, कर्तोंकि अस्पत्तानके साथ बहुत-सा अज्ञान भी रहेगा। ऐसी दशामें बन्ध ही होगा, मोक्ष कभी न हो सकेगा। इस प्रकार विचार करनेपर ये दोनों ही एकान्त दोषपूर्ण हैं और इसलिए वे गाहु नहीं हैं।

१७ के हारा उभयैकान्तमें विरोध और बावाच्यतैकान्तमें 'बावाच्य' शब्दके हारा भी उसका निर्देश न हो सकनेका दोष दिया गया है।

१८ के हारा स्यादादसे बन्ध और मोक्षकी ब्यवस्था बताते हुए कहा है कि मोहसहित अज्ञानसे बन्ध होता है, मोहरहित अज्ञानसे नहीं। इसी तरह मोहरहित अस्पत्तानसे मोक्ष सम्भव है और मोहसहित अस्पत्तान-से नहीं। अतः बाव्यका कारण केवल अज्ञान नहीं है और न मोक्षका कारण केवल अस्पत्तान है। यथार्थमें मोहके क्षेत्रमें बन्ध और मोहके बाबादमें बीज बाब्दय-ब्यतिरेकसे सिद्ध होते हैं। अज्ञानका बन्धके साथ और ज्ञानका

मोक्षके साथ धार्मिकत्यभिचार उषा। व्यति देवधर्मिचार होनेसे उनका उनके साथ न अन्वय है और न व्यतिरिक्त। और जब उनका उनके साथ अन्वय व्यतिरिक्त नहीं है तो उनमें कार्यकारणभाव भी नहीं बन सकता। अतः मोहसुहित अज्ञानसे बच और मोहरहित घोड़ेसे भी जाएंसे मोक्षकी व्यवस्था मानी जानी चाहिए।

कारिका ९९ में उनकी समीक्षा अन्तिमिहित है जो प्राणियोंकी अनेक प्रकारकी इच्छादि सृष्टिको ईश्वरकृत मानते हैं—उसे उनके शुभाशुभ-कर्मजन्य स्वीकार नहीं करते। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्राणियोंकी इच्छादि विवित्र सृष्टि उनके स्वकर्मनिःसार होती है, ईश्वर उसका कर्ता नहीं है। और उनका वह कर्म उनके शुभाशुभ परिणामोंसे अनित होता है, क्योंकि समस्त संसारी जीव शुद्धि (शुभ परिणाम) और अशुद्धि (अशुभ परिणाम) की अपेक्षासे दो भागोंमें विभक्त है।

उल्लिखित शुद्धि और अशुद्धि ये दोनों जीवोंकी एक प्रकारकी शक्तियाँ हैं जो उनमें पाक्ष और अपाक्ष शक्तियोंकी तरह नैसर्गिक होती हैं, यह कारिका १०० में प्रतिपादन है।

कारिका १०१ में जैन प्रमाणका स्वरूप और उसके अक्षमभावि तथा क्रमभावि ये दो भेद निर्विष्ट हैं।

कारिका १०२ में प्रमाणफलका निर्देश करते हुए उसे दो प्रकारका बताया है—एक साक्षात्कल और दूसरा परम्पराफल। अक्षमभावि (कैवल) प्रमाणका साक्षात्कल अज्ञाननिवृत्ति और परम्पराफल उपेक्षा (वस्तुओंमें रागद्वेषका अभाव) है। क्रमभावि प्रमाणका भी साक्षात्कल अज्ञाननाश है और परम्पराफल हृनवुद्धि, उपाधानवुद्धि तथा उपेक्षावुद्धि है।

कारिका १०३ में सूचित किया है कि वक्ताके ग्रन्थके वाक्यमें उसके आशयका बोधक 'स्थात्' निपातपद प्रकट या अप्रकट रूपमें अवश्य विद्यमान रहता है जो एक धर्म (बोध्य) का बोधक (वाचक) होता है। व्यय अनेक धर्मों (अनेकान्त) का बोधक होता है। यह बात सामान्य वक्ताके

वाक्योंके विषयमें ही नहीं है, केवलियोंके भी वाक्योंमें 'स्यात्' निपातपद निहित रहता है और वह एक (विवित) धर्मका प्ररूपक होता हुआ अभ्य सभी (अविवित) धर्मोंका अस्तित्वप्रकाशक होता है ।

कारिका १०४ में उक्ती 'स्यात्' के बाद (मान्यता) अर्थात् स्याद्वाद को स्पष्ट किया गया है । कहा गया है कि किञ्चित्, कथञ्चित् धर्मोंसे जिसका विवान होता है और विसमें एकान्तकी गत्त्व नहीं है तथा जो सप्तभृतीयसे विवित (उपादेश) का विद्यायक एवं अविवितों (हेयों—दोष धर्मों) का निषेषक (समावृत्तक) है वह स्याद्वाद है । कथञ्चित् द्वाद, किञ्चिद्वाद इसीके पर्याय हैं ।

कारिका १०५ में स्याद्वादका महत्त्व घोषित करते हुए कहा गया है कि तत्त्वप्रकाशनमें स्याद्वादका वही महत्त्व है जो केवलज्ञानका है । योसों ही समस्त तत्त्वोंके प्रकाशक हैं । उनमें यदि अस्तर हैं तो इतना ही कि केवलज्ञान साक्षात् समस्त तत्त्वोंका प्रकाशक है और स्याद्वाद असाक्षात् (परोक्ष) उनका प्रकाशक है ।

कारिका १०६ में प्रतिपादन है कि उल्लिखित तत्त्वप्रकाशन स्याद्वाद (श्रुत—अहेतुवाद—धार्म) के अतिरिक्त नयसे भी होता है और नयसे वही हेतु विवित है । जो स्याद्वादके द्वारा जाने गये अर्थके विशेष (धर्म) का गमक है तथा सप्तके साधन्यों एवं विपक्षके दैषर्य (मान्यता—नुपपन्नत्व) को लिए हुए हैं अर्थात् साध्यका अधिनामावी होता हुआ साध्यका साधक है वह हेतु है । अत्याख्याकारोंने इस कारिकामें यत्यकार द्वारा नयलक्षणके भी कहे जानेका अत्याख्यान किया है । उनके अत्याख्यानके अनुसार नय तत्त्वज्ञानका वह महस्त्वपूर्ण उपाय है जो स्याद्वादद्वारा प्रसिद्ध अनेकान्तर के एक-एक धर्मका बोध कराता है । समग्रका प्राह्ल ज्ञान तो प्रमाण है और असमग्रका ग्राहक नय है । यही इन दोनोंमें भेद है ।

कारिका १०७ में जैन सम्मत वस्तु (प्रमेय) का भी स्वरूप निरूपित है । उपर नयका निर्देश किया जा चुका है । उसके तथा उसके भेदों—उपभेदों (उपनयों) के विषयमूलत्रिकालवर्ती धर्मों (गुण-प्रयोगों) के समुच्चय (समष्टि) का नाम इत्य (वस्तु—प्रमेय) है । यह समुच्चय

संयोगादि सम्बन्धरूप न होकर कथित् विभादभावसम्बन्ध (तावात्प्य) रूप है। वस्तुका कोई भी धर्म उसके शेष धर्मोंसे न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। सभी धर्म परस्पर मैत्रीभावके साथ वस्तुमें वर्तमान हैं और वे सभी वस्तुकी आत्मा (स्वरूप) हैं। इस प्रकारके सह अस्तित्वात्मक सम्बन्धको अविष्वभावसम्बन्ध कहते हैं। वस्तु सत्ताभावन्ध-की अपेक्षासे एक होती हुई भी धर्म-धर्मोंके भेदसे अनेकरूप भी है। अथवा यों कहें कि वह न सर्वथा एक है और न सर्वथा अनेक है, अपितु एकान्त-कात्मक जात्यन्तररूप है।

कारिका १०८ में उस शब्दका समाधान प्रस्तुत है जिसमें कहा गया है कि जैनदर्शनमें एकान्तोंके समूहका नाम अनेकान्त है और एकान्तको मिथ्या (असत्य) माना गया है। अतः उनका समूह (अनेकान्त) भी मिथ्या कहा जायेगा। अनेक असत्य मिलकर एक सत्य नहीं बन सकता। इस लिए उच्च एकान्तसम्बन्धरूप अनेकान्तको जो ऊपर वस्तु कहा गया है वह सम्यक् नहीं है? इस शब्दका समाधान करते हुए पत्न्यकार कहते हैं कि निरपेक्ष एकान्तोंके समूहको यदि मिथ्या कह जाता है तो वह हमें इष्ट है; क्योंकि स्याद्वादियोंके यही वस्तुमें निरपेक्ष एकान्तता नहीं है। स्याद्वादी सापेक्ष एकान्तको स्वीकार करते तथा उनके ही समूहको अनेकान्त मानते हैं, निरपेक्ष एकान्तोंके समूहको नहीं। उन्होंने स्पष्टतया निरपेक्ष नयों (एकान्तों) को मिथ्या (असत्य) और सापेक्षोंको वस्तु (सम्यक्—सत्य) कहा है, क्योंकि वे ही अर्थक्रियाकारी हैं।

कारिका १०९ में बाचकके स्वरूपकी भी स्याद्वाददुष्टिसे व्यवस्था की गई है। जो विधिवाक्यको केवल विधिका और निषेधवाक्यको केवल निषेधका नियामक मानते हैं उनकी समीक्षा करते हुए कहा गया है कि चाहे विधिवाक्य हो, चाहे निषेधवाक्य, दोनों ही विधि और निषेधरूप अनेकान्तात्मक वस्तुका बोध करते हैं। जब विधिवाक्य बोला जाता है तो उसके द्वारा अपने विवक्षित विधि धर्मका प्रतिपादन होनेके साथ प्रतिषेध धर्मका भी मौन अस्तित्व स्वीकार किया जाता है—उसका निराकरण या लोप करके वह मात्र विधिका ही बोध नहीं करता। इसी

प्रकार प्रतिषेदवाक्य भी अपने दिवक्षित प्रतिषेध धर्मका कथन करनेके साथ अविनाभावी विधि धर्मका भी मौन ज्ञापन करता है—उसका निरास प्रा उपेक्षा। करके केवल निषेधको ही सूचित नहीं करता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मी है—तद और अतद् इन विरोधी धर्मोंको अपनेमें समाये हुए हैं। अबः कोई भी वाक्य उसके इस स्वरूपका लोप करके मनमानी नहीं कर सकता। ही, वह अपने विवक्षित वाच्यका मुख्यतया और शेषका गौणरूपसे अवगम करता है। इसी तथ्यको प्रस्तुत करनेके लिए स्थाद्वादवर्णनमें वक्ता द्वारा लोले गये प्रत्येक वाक्यमें 'स्पात्' निपात-पद कहीं प्रकट और कहीं अप्रकट रूप-से अवश्य रहता है। यदि विश्ववाक्य या निषेदवाक्य केवल विधि या केवल निषेधके ही नियामक हों तो अन्य विरोधी धर्मका लोप होनेसे उसका अविनाभावी अभिषेय धर्मका भी अभाव हो जायेगा और तब वस्तुमें कोई भी धर्म (विशेषण) न रहने पर वह अविषेय (शून्य) हो जायगी।

११०-११३ तक चार कारिकाओंके द्वारा वाच्यके स्वरूपमें अज्ञीकृत एकान्तवादियोंके अभिनिषेदोंकी समीक्षा करते हुए स्थाद्वादसे वाच्यके भी स्वरूपकी स्थापना की है। प्रत्यकार कहते हैं कि प्रत्येक वचन (वाक्य) तद और अतद् रूप वस्तुको कहता है, यह हम ऊपर देख चुके हैं, तो 'तदरूप ही वस्तु है' ऐसा कथन करने वाला वचन सत्य नहीं है और जब वह सत्य नहीं तब असत्य वाक्योंके द्वारा तत्त्वार्थ (व्यार्थ वस्तु) का उपदेश कैसे हो सकता है? विश्ववादियोंको इसपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिए।

'अन्य नहीं' इतना ही प्रत्येक वचन सूचन करते हैं, यह एकान्त मान्यता भी मुक्त नहीं है, क्योंकि वाणीका स्वभाव है कि वह अन्य वचन द्वारा प्रतिपाद्य अर्थका निषेध करती हुई व्यपने अर्थ सामान्यका भी प्रतिपादन करती है। जो वाणी ऐसी नहीं है वह सपुष्यके समान मिथ्या है।

वाणी के बल अन्यव्यावृत्तिरूप (अन्यापोह) सामान्यका प्रतिपादन करती है, विशेष (स्वलक्षण) का नहीं, यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि अन्यव्यावृत्ति मुझां होनेसे वह शब्दका अर्थ नहीं हो सकती। जिस शब्दसे जिस अर्थविशेषकी प्रतीति, प्राप्ति और जिसमें प्रवृत्ति हो वही उस शब्दका अर्थ है। तुष्टारूप अन्यव्यावृत्ति किसी भी शब्दसे आत या प्राप्त नहीं होती और मैं उसमें किसीकी प्रवृत्ति होती है। अतः वह शब्दका वाच्य नहीं है। चूंकि घटपटादि शब्दोंसे घटपटादि विशेष अभिप्रेतोंकी प्रतीति एवं प्राप्ति होती है और उन शब्दोंको सुनकर शोताकी उन्हींमें प्रवृत्ति होती है, अतः घटादिशब्दोंका वाच्य घटादि अभिप्रेतविशेष है, घटादिव्यावृत्ति नहीं। अतः 'स्यात्' पदसे अद्वित वचन ही सत्यके सूचक एवं प्रकाशक है। जो वचन 'स्यात्' पदसे अद्वित नहीं वे सत्यका अकाशन नहीं कर सकते।

जो अभीप्सित अर्थका कारण है और प्रतिषेध (विरोधी) का अविनाभावी है वही शब्दका विषेष है और वही आदेय तथा उसका प्रतिषेध है। यद्यार्थमें वक्ताके लिये जो इष्ट है उसे कहने तथा जो इष्ट नहीं उसके निषेध करनेके लिये ही उसके द्वारा शब्दका प्रयोग किया जाता है और जिसके लिये शब्द प्रयोग है वही उसका वाच्य है। अतः शब्दका वाच्य न सर्वथा विषि है और न सर्वथा अन्यव्यावृत्ति (निषेध) है, अपितु उभयात्मक (अनेकान्तरूप) वस्तु उसकी वाच्य है। इस प्रकार सभी वस्तुएँ—प्रमाण, प्रमेय, वाचक, वाच्य आदि स्वभावतः स्यादाद्य-मुद्राद्वित हैं।

इस अन्तिम परिच्छेदकी अन्तिम कारिका ११४ है। इसमें प्रत्यक्ष का उपसंहार करते हुए अन्यकारने अपनी प्रस्तुत कृतिका प्रयोजन प्रदर्शित किया है। कहा है कि हमने यह आसमीमीमांसा कहनेके इच्छुक लोगोंके लिये की है, जिससे वे यह जान सकें, अद्वा कर सकें और समाचरण भी कर सकें कि सम्यक् कथन अमुक है और मिथ्या कथन अमुक है और इस तरह सम्यक् कथनकी सत्यता एवं उपादेयता तथा मिथ्या कथनकी असत्यता एवं हेतुताका उन्हें अवशारण हो सके। इससे मार्याद महोदय-

के परहितसम्यादनप्रबण हृदयका और उनकी दर्शनविशुद्धि, प्रचुरवात्सत्त्व तथा मार्गप्रभावना जैसी उच्च भावनाओंका परिचय मिलता है।
 (ग) देवागमकी व्याख्याएँ : १. पू. ३ चिन्तन व्याख्यान

अपर देवागम और उसके प्रतिपाद्यविवृतिका अध्युक्तप्रिच्छय दिया गया है। अब उसकी व्याख्याएँ भी परिचय, ऐसे का प्रयोग किया जाता है।

देवागमपर तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं—१. देवागम-विवृति (अष्टशती-भाष्य), २. देवागमालङ्कार (आत्मीयसालङ्कार-अष्टसहस्री) और ३. देवागमवृत्ति।

१. देवागम-विवृति :

इसके रचयिता आ० अकलङ्कूदेव है। यह देवागमकी उपलब्ध व्याख्याओंमें सबसे प्राचीन और अहमत दुरुह व्याख्या है। परिच्छेदोंके अन्तमें जो समाप्ति-पृष्ठिकावाक्य पाये जाते हैं उनमें इसका आत्मीयसां

१. आ० विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें आ० अकलङ्कूदेवके समाप्ति-मञ्जलसे पूर्व 'केचित्' शब्दोंके साथ देवागमके किसी व्याख्याकारका 'जयति जगति' आदि समाप्ति-मञ्जल पत्र दिया है। उससे प्रतीत होता है कि अकलङ्कूदेवसे पूर्व भी देवागमपर किसी आचार्यकी व्याख्या रही है, जो विद्यानन्दको प्राप्त थी या उसकी उन्हें जानकारी थी और उसपरसे ही उन्होंने उल्लिख समाप्ति-मञ्जलपत्र दिया है। लघुसम्प्लभद्र (वि० सं० १३वीं शती) ने वादीभासहवारा देवागम (आत्मीयसांसा) के उपलालन—व्याख्यान करनेका उल्लेख अष्टसहस्री-टिप्पण (१० १) में किया है। पर वह भी आज अनुपलब्ध है। देवागमके भहत्व और विश्रुतिको देखते हुए आदर्श नहीं कि उसपर विभिन्न कालोंमें विद्यि दीका-टिप्पणादि लिखे गये हों। अकलङ्कूदेवने अष्टशती (का० ३३ वी विवृति) में एक स्थानपर 'पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' शब्दोंका प्रयोग करके देवागमके पाठमें और उसकी अनेक व्याख्याओंकी ओर स्पष्ट सकेत किया है।

भाष्य (देवागम-भाष्य) के नामसे उल्लेख हुआ है।^१ आ० विश्वानन्दने अष्टहस्तीके सुतीय परिच्छेदके आरम्भमें ओं ग्रन्थ-प्रशंसामें पढ़ दिया है उसमें उन्होंने इसका 'अष्टशती' नाम भी निर्दिष्ट किया है।^२ सम्भवतः आठसौ श्लोकप्रमाण रचना होनेसे इसे उन्होंने 'अष्टशती' कहा है। लगता है कि इस अष्टशतीको ध्यानमें रखकर ही अपनी 'देवागमालंकृति' व्याख्याको उन्होंने आठ हजार श्लोकप्रमित बनाया और 'अष्टशती' नाम रखा। जो हो, इस तरह यह अकलकृदेवकी व्याख्या देवागम-विवृति, आप्तमीमांसा-भाष्य (देवागम-भाष्य) और अष्टशती इन तीनों नामोंसे जैसे वाड्मयमें विश्रुत है। इसका प्रायः प्रत्येक स्थल इतना अटिल एवं कुरुक्षणात् है कि साधारण विद्वानोंका उसमें प्रवेश सम्भव नहीं है। उसके मर्म एवं रूपस्थितीयमें इसकी जोड़की रचना मिलना दुर्लभ है। अष्टशतीके अध्ययनमें जिस प्रकार कष्टशहस्रीका अनुभव होता है उसी प्रकार इस अष्टशतीके अध्ययनमें भी कष्टशतीका अनुभव उसके अस्यासीको थहरापर होता है।

२. देवागमालंकृति :

यह आ० विश्वानन्दकी अपूर्व एवं महस्यपूर्ण रचना है। इसे आप्त-मीमांसालंकृति, आप्तमीमांसालक्ष्मार और देवागमालक्ष्मार इन नामोंसे भी साहित्यमें उल्लिखित किया गया है। आठ हजार श्लोक प्रमाण होनेसे इसे लेखकने स्वयं 'अष्टशती' भी कहा है।^३ देवागमकी जितनी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं उनमें यह विस्तृत और प्रमेयवहूल व्याख्या है। इसमें देव-

१. 'हस्याप्तमीमांसाभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥ ४ ॥'

२. अष्टशती प्रथितार्था साष्टशहस्री कृतापि संकेपात् ।

विलसदकलकृषिवर्णः प्रपञ्चनिचितावबोद्धया ॥

—अष्टस. पृ. १७८।

३. श्रीहस्याप्तशहस्री श्रुतेः किमन्यैः सहस्रसंख्यामैः ।

विज्ञायेत यर्यैव स्वसमय-परसमयसङ्क्रान्तः ॥

—अष्टस. पृ. १५७।

गमकी कारिकाओं और उनके प्रस्तेक पदन्वाक्यादिका विस्तारपूर्वक अर्थोद्घाटन किया है। साथ ही उपर्युक्त अष्टशतीके प्रत्येक पदवाक्यादिका भी विशद अर्थ एवं मर्म प्रस्तुत किया है। अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें इस तरह आत्मसात् कर लिया गया है कि यदि दोनोंको भेदसूचक पृथक्-पूर्वक टाइपोंमें न रखा जाय तो पाठकों यह जानना कठिन है कि यह अष्टशतीका अर्थ है और यह अष्टसहस्रीका। विद्यानन्दने अष्टशतीके आगे, पीछे और मध्यकी आवश्यक एवं वर्धीप्रयोगी सान्दर्भिक बाब्यरचना करके अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें मणि-प्रदाल न्यायसे अनुस्युत किया है और अपनी तलस्पत्तिनी अद्भुत प्रतिभाका चमत्कार दिखाया है। वस्तुतः यदि विद्यानन्द यह देवागमालंकृति द्वारा तो इष्टपत्तिपूर्वक युक्त विद्यानन्दनीमें ही छिपा रहता और मेषावियोंके लिए वह रहस्यपूर्ण बनी रहती। देवागम और अष्टशतीके व्याख्यानोंके अतिरिक्त इसमें विद्यानन्दने कितना ही नया विचारपूर्ण प्रमेय और अपूर्व 'चर्चाए' भी प्रस्तुत की है। व्याख्याकारके अपनी इस व्याख्याके महत्वकी उद्घोषणा करते हुए लिखा है—‘हुआर शास्त्रोंका पद्मनाभ-सुनना एक सरफ है और एकमात्र इस कृतिका अध्ययन एक जोर है; क्योंकि इस एकमें अभ्याससे ही स्वसमय और परसमय बोलोंका जान हो जाता है।’ व्याख्याकारकी यह घोषणा न मदोक्षित है और न अतिशयोक्ति। अष्टसहस्री स्वयं इसकी निर्णायिका है। देवागममें यतः दश परिच्छेद हैं अतः उसके व्याख्यानस्वरूप अष्टसहस्रीमें भी दश परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेदका आरम्भ और समाप्ति दोनों एक-एक गम्भीर पद्म द्वारा किये गये हैं। इसपर लघुसमन्तभ्र (१३वीं शती) ने ‘अष्टसहस्री-विद्यमपवतात्पर्यंटीका’ और एकताम्बर विद्यान् यशोविजय (१७वीं शतो) ने ‘अष्टसहस्रोतात्पर्यंकिवरण’ नामकी व्याख्याएँ लिखी हैं, जो अष्टसहस्रीके विषयमयों, वाक्यों और स्वलोंका स्पष्टीकरण करती हैं। यह देवागमालंकृति कोई ५२ वर्ष पूर्व सन् १९१५ में सेठ नायारसङ्गी गांधी द्वारा एक बार प्रकाशित हो चुकी है। पर वह अब अप्राप्य है। अब वार्षिक सम्पादनके साथ इसका दूसरा युक्त संस्करण प्रकट होना चाहिये।

३. देवागम-वृत्ति—यह देवागमकी लघुपरिभाषकी व्याख्या है। यह न अष्टशतीकी तरह दुर्लभ है और न अष्टसहस्रीके समान विस्तृत एवं गम्भीर है। कारिकाओंका व्याख्यान भी लम्बा नहीं है और न वार्षिक विस्तृत लंहापोह है। मात्र कारिकाओंके लौट उनके पठ-शाकरोंगत लंहापोह और कहीं-कहीं फलितार्थ अतिरिक्तोंपरे प्रस्तुत किया गया है। पर ही, कारिकाओंका अर्थ समझतेके लिये यह वृत्ति पर्याप्त उपयोगी है। इसके रचयिता आ। वसुनन्दिन हैं, जिन्होंने वृत्तिके अन्तमें स्वयं लिखा है^१ कि 'मैं भन्दबुद्धि और विस्मरणशील व्यक्ति हूँ। मैंने अपने उपकारके लिए ही इस देवागमका संक्षिप्त विवरण किया है।' वृत्तिकारके इस स्पष्ट आरम्भिकेवनसे इस वृत्तिकी लघुरूपता और उसका प्रयोजन अवगत हो जाता है। उल्लेखनीय है कि वसुनन्दिनके समक्ष देवागमकी ११४ कारिकाओंपर ही अष्टशती और अष्टसहस्री उपलब्ध होते हुए तथा 'व्यतिशयति' आदि कारिकाओंको विद्यानन्दिनके उल्लेखानुसार किसी पूर्ववर्ती आचार्यकी देवागम-व्याख्याका समाप्ति-मञ्चल-पथ जानते हुए भी उन्होंने उसे देवागमकी ११५वीं कारिका किस आधारपर माना और उसका विवरण किया? यह चिन्तनोमय है। हमारा विचार है कि प्राचीन कालमें साधुओंमें देवागमका पाठ करने और उसे कण्ठस्थ रखनेकी परम्परा रही है। वसुनन्दिने देवागमको ऐसी प्रतिप्रदेशे कण्ठस्थ किया होगा, जिसमें मूलमात्र देवागमकी ११४ कारिकाओंके साथ सक्त अलात देवागम-व्याख्या-का समाप्ति-मञ्चल-पथ भी अद्भुत कर दिया गया होता और उसपर ११५ का अच्छा ढाल दिया होगा। वसुनन्दिने अष्टशती और अष्टसहस्री शीकाओंपरसे जानकारी एवं अनुशनधारन किये बिना देवागमका अर्थ हृदयञ्चम रखनेके लिये यह देवागम-वृत्ति लिही होगी और उसमें कण्ठस्थ सभी (११५) कारिकाओंका विवरण लिखा होगा। यही कारण

१. 'श्रीमहसमन्तभद्राचार्यस्य ...देवागमभाष्याः सुते: संदेशभूतं विवरणं कृतं शूतविश्वरणशीलेन वसुनन्दिना जडमत्तिनाऽङ्गमोपकाराय।'

—वसुनन्दि, देवागमवृत्ति पृ० ५०, समालन, जैन ग्रन्थमा।

है कि प्रस्तुत वृत्तिमें न कहीं अहशतीके पदवाक्यादिका निर्देश मिलता है और न कहीं अष्टसहस्रीके । अस्तु । यह देवागमवृत्ति कलकत्ताकी सनातन जैन धर्ममाला द्वारा सन् १९१४ में एक बार प्रकाशित हो चुकी है । यह अब अच्छे संस्करणके रूपमें पुनः मुद्रित होना चाहिए ।

(घ) देवागम-रचनाका मूलाधार :

अपर देवागम और उसकी व्याख्याओंका परिचय देनेके बाद उसकी रचनाके मूलाधारपर भी यहीं विचार किया जाता है ।

आ. विद्यानन्दका जैन वाङ्मयमें सम्पानपूर्ण स्थान है और उनकी कृतियोंको आप्तान्वचन जैसा माना जाता है । इन विद्यानन्दके उल्लेखा-नुसार स्वामी समन्तभद्रने देवागमकी रचना तत्त्वार्थमूलके आरम्भमें स्तुत आप्तकी भीभासाके लिये की थी । उनके वे उल्लेख निम्न प्रकार हैं :—

(१) 'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमालितौ कृति'—

बष्टस. आदिमङ्गलस्तो. १, पृ० १ ।

(२) 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूमद्य-
सृतया विश्वतत्त्वार्ता शातृतया च भगवद्यहस्तर्वज्ञस्यैवान्ययोग-
व्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विद्विता ।'

बष्टस. पृ० २९४ ।

(३) शीमत्तद्वार्थशास्त्रादभुतसलिलभिषेदिदरत्नोद्भवस्य,

प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।

स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथित-पृथु-पथं स्वामि-मीमालितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्तया ॥

आप्तप० का. १२३, पृ० २६५ ।

(४) "इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेणिणुणस्तोत्रस्य मुक्तिपूङ्गव-
विधीयमानस्यान्वयः सम्प्रदायाक्यवच्छेदरक्षणः पदार्थवटना-
लक्षणी वा लक्षणीयः, प्रपञ्चतस्तवन्वयस्याक्षेपसमाधान-
लक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्त्रामिभिर्वाणमास्याप्तमीमालाप्ता
प्रकाशनात् ।" —आप्तप० का० १२०, पृ० २६१-२६२ ।

हन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थशास्त्र (तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थसूत्र, निष्ठेयशास्त्र या मोक्षशास्त्र) के आरम्भमें जिन 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि तीन असाधारण विशेषणोंसे आप्तकी बन्दना शास्त्रकार आप उमास्वामीने की है उन्होंविशेषणोंकी मीमांसा (सोपपत्ति विचारणा) स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें की है । तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रका 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गलस्तोत्र अप्तमीमांसाकी रचनाका मूलाधार है । विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंमें आये हुए 'शास्त्रावत्साह-रचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं', 'शास्त्रकारैः हुतं यत् स्तोत्रं'... स्वामि-मीमांसितं तत्', ... 'शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणसोत्रस्य मुग्निपुङ्गवैविशेषयमानस्य' ... 'सदन्धप्रस्वाकोप-समाप्तामलक्षणस्य' शीर्षसमस्तभ्रात्मानिभिर्हेत्वा-गमालयाप्तमीमांसतापां प्रकाशमात्' जैसे स्पष्ट और व्यर्थर्थ हात्तद्विजेष इयाम देने योग्य हैं जो आप्तमीमांसाको तत्त्वार्थसूत्रके मङ्गलस्तोत्रका व्याख्यान असन्दिग्ध घोषित कर रहे हैं । विद्यानन्दने अपने हस कथनको साधार और पराम्भरागत बतलानेके लिए उसे अकलकूदेवके अष्टशतीगत उस प्रतिपादनसे भी प्रमाणित किया है जिसमें अकलकूदेवने आप्तकी मीमांसा (परीक्षा) करनेके कारण समन्तभद्रपर किये जाने वाले व्यषट्टालुता और अगुणशताके आधेष्ठोंका उत्तर देते हुए कहा है कि ग्रन्थकारने देवागमादि मङ्गलपूर्वक की गई 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्रके विषयभूत परमात्माके गुणविशेषोंकी परीक्षाको स्वीकार किया है, इससे उनमें शद्गता और गुणशता दोनों बातें स्वयं आपमन हो जाती हैं, क्योंकि उनमें एककी भी कमी रहने पर परीक्षा सम्भव नहीं है । निष्ठय ही ग्रन्थकारने शास्त्रन्याय (तत्त्वार्थशास्त्रकी पढ़ति—मङ्गल-विद्यानपूर्वक शास्त्रकरण) का अनुसरण करके ही आप्तमीमांसाकी रचनाका उपक्रम किया है और इससे सहज ही जाना जा सकता है कि ग्रन्थकारमें शद्गता और गुणशता दोनों हैं । अकलकूदका वह प्रसिपादम इस प्रकार है :—

'देवागमस्यादिमंगलपुरस्तरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशायपरीक्षामुपशि-पतौद व्ययं शद्गुणशतालक्षणं प्रयोजनमाधिप्तं लक्ष्यते । तदन्यतरापायेऽर्थ-

स्यामुपपत्तेः । शास्त्रम्यायानुसारितया तथैवोपस्थापात् ।^१

अष्टश० आष्टस० पू० २ ।

विद्यानन्दने अकलचूदेवके इस प्रतिपादन और अपने उक्त कथनका इसी अष्टसहस्री (पू० ३) में समन्वय भी किया है और इस तरह अपने निरूपणकी उन्होंने परम्परागत सिद्ध करके उसमें प्राप्ताण्य स्थापित किया है ।

(ड) 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' स्तोत्र तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण :

जहाँ विद्यानन्द और अकलचूदेवके उपर्युक्त उल्लेखोंसे सिद्ध है कि स्यामी समन्वयभद्रकी आप्तमीमांसा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्रके व्याख्यानमें किसी गई है जहाँ विद्यानन्दके ही उक्त उल्लेखोंपरसे यह भी स्पष्ट है कि वे उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रका मंगलाचरण आनते हैं । तथा तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रमें उन्हें आत्मर्थ गृह्णित्वाचित् दशाध्यायो तत्त्वार्थसूत्र ही विवक्षित है ।^२ इस सम्बन्धमें परन्तु कुछ विद्यान विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंका सामिक्राय अर्थविपरीक्षकरके उसे सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाददेवनन्दिकी रक्षा बतलाते हैं ।^३

१. (क) कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं...येन सदारम्ये परमेष्ठिनामाध्यामं विद्यीयत इति चेत् तत्त्वार्थयोगत्वात् ।...तत्त्व तत्त्वार्थस्य वज्ञान्यायीकपस्थापत्तीति शास्त्रं तत्त्वार्थः ।' —२० इलो० पू० २ ।
- (ख) 'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीस्त्रस्तोत्रमोचरा ।'—आष्ट० १२४ ।
- (ग) दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थं पठिते सति ।

फलं स्यामुपबासस्य भाषितं मुनिपुज्ज्ञवः ॥

२. 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक लेखकके दो लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७, १०-११ ।
३. 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्', के कर्ता पूज्यपाद देवनन्दि, शीर्षक लेख, मुनि हृजारीमल स्मृतियान्य पू० ५६३ ।

उनका प्रयास है कि प्रांभंड इतिहासदेशा पं० जुगलोकव्योरजो मुख्तार द्वारा खोजपूर्ण अनेकविष्ट प्रमाणोंसे निर्णीत स्थामी समस्तभद्रके विक्रम सं० दूसरी-तीसरी शताब्दीके समयको वि० सं० सातवीं-आठवीं शताब्दी सिद्ध किया जाय ।

यहीं उनकी स्थापनाओंको देकर उनपर सूक्ष्म और गहराईसे चिचार किया जाता है :—

(१) आप्तपरीक्षागत प्रयोगोंसे सिद्ध है कि 'सूत्रकार' शब्द केवल आ० उमास्वामीके लिए ही प्रयुक्त नहीं होता था, दूसरे आचार्योंके लिए भी उसका प्रयोग किया जाता था ।

(२) तत्त्वार्थएलोकवार्तिकगत तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्रकी अनुपस्थिति-उ स्थापन और उसके परिहारकी वचसि स्पष्ट फलित होता है कि विद्वान्दके सामने तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें 'सोक्षमर्गस्य नेतारम्' एलोक नहीं था ।

(३) अष्टशहस्री तथा आप्तपरीक्षाके कुछ विषेष उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि इसी एलोकके विषयमूल आप्तकी मीमांसा समस्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसामें की ।

समीक्षा :

इन तीनों स्थापनाओंकी यहीं समीक्षा को जाती है । प्रथम स्थापनाके समर्थनमें विद्वान्दके ग्रन्थोंसे कोई ऐसा उल्लेख-प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, जिसमें उन्होंने उमास्वामीके अतिरिक्त अन्य किसी आशार्यको सूत्रकार या शास्त्रकार कहा हो । तथ्य तो यह है कि विद्वान्दने अपने किसी भी ग्रन्थमें उमास्वामीके सिवाय अन्य किसी ग्रन्थकातिको सूत्रकार या शास्त्रकार नहीं लिखा । जहाँ कहीं अन्य ग्रन्थकातियोंके उन्होंने अवतरण दिये हैं उन्हें उन्होंने उनके नामसे या ग्रन्थ नामसे या केवल 'तत्त्वस्तम्' कहकर उल्लेखित किया है, सूत्रकार या शास्त्रकारके नामसे नहीं । सूत्रकार या शास्त्रकार शब्दका प्रयोग केवल उमास्वामीके लिए किया है । इस सम्बन्धमें हमने विद्वान्दके ग्रन्थोंपरसे खोजकर ३३ अवतरण उदाहरणार्थ

अन्यथा दिये हैं” जिनसे स्पष्ट है कि विज्ञानन्दकी प्रकृति अन्य आचार्योंको सूत्रकार या शास्त्रकार लिखनेकी नहीं रही। केवल उमास्वामीके लिए ही इन दोनों शब्दोंका उन्होंने प्रयोग किया है। किसी लेखकका जो सूत्र-लक्षण ‘सूत्रं हि सर्वं समुक्तिकं बोचयते’^१ उन्होंने उन्होंसे उद्घृत किया है उससे इतना ही सिद्ध करना उन्हें अभिप्रेत है कि इस लक्षणानुसार भी तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंमें सूत्रता है। उससे यह अभिप्राय कदाचित् नहीं निकाला जा सकता है कि उन्होंने अन्य लेखकको भी शास्त्रकार या सूत्रकार कहा है।

दूसरी स्थापनाके समर्थनमें जो यह कहा गया है कि उक्त मञ्चल-इलोककी व्याख्याकारों द्वारा व्याख्या न होनेसे वह तत्त्वार्थसूत्रकम् मञ्चल-पत्र नहीं है वह भी युक्त नहीं है; क्योंकि व्याख्याकारोंको यह आवश्यक नहीं है कि वे व्याख्येय ग्रन्थके मञ्चलाचरणकी भी व्याख्या करें। उदाहरणार्थं एवंताम्बर ‘कर्मस्तव’ नामक द्वितीय कर्मग्रन्थ और ‘धड्डवीति’ नामके चतुर्थ कर्मग्रन्थको लीजिए। इनमें मञ्चलाचरण उपलब्ध हैं। पर उनके भाष्यकारोंने अपने भाष्योंमें उनका भाष्य या व्याख्यान नहीं किया। फिर भी वे मञ्चलाचरण उन्हीं ग्रन्थोंके माने जाते हैं। एक अन्य उदाहरण और लीजिए, एवंताम्बर तत्त्वार्थविगमसूत्रभूलके साथ जो ३१ सम्बन्ध-कारिकारै पायी जाती है उनका ह्योपज्ञ भाष्यमें कोई व्याख्यान या भाष्य नहीं किया गया। फिर भी उन्हे सूत्रकार-रचित माना जाता है। बात यह है कि व्याख्याकार मूलके उन्हीं पदों और वाक्योंकी व्याख्या करते हैं जो कठिन होते हैं या जिनके सम्बन्धमें विशेष कहना चाहते हैं। जो पद-वाक्यादि सुनम होते हैं उन्हें वे ‘सुनमम्’ कहकर या बिसा कहे अव्याख्यात छोड़ देते हैं। ‘मोक्षमार्गस्य’^२ इलोक भी सुनम है। इसीसे उसकी व्याख्याकारोंने व्याख्या नहीं की।^३ अतः कन्त इलोकको अव्याख्यात होनेसे सूत्रकारकृत असिद्ध नहीं कहा जा सकता।

१, २. ‘तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण’ शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७, पृष्ठ २३२।

इस स्थापनाके समर्थनमें एक बात यह भी कही गई है कि विद्यानन्द-को यदि उक्त मङ्गलस्तोत्र उमास्वामी धर्मीत अभिप्रेत होता तो वे 'प्रबुद्धाशेषतस्त्वार्थं' 'आदि सोत्यानिका वाक्य द्वारा अनुपपत्तिस्थापन और उसका परिहार न कर उसीका यही निर्देश करते। इस सम्बन्धमें हम इतना ही पूछना चाहते हैं कि स्थापनाकारने उक्त उल्पानिकावाक्य महित पद्मोंसे उक्त अर्थ कैसे लिकाला ? क्योंकि विद्यानन्दने यही केवल उस प्रसङ्गोपात् अनुपपत्तिको प्रस्तुत करके उसका परिहार किया है जिसमें अनुपपत्तिकारने कहा है कि जब न कोई मोक्षमार्गका प्रवक्ताविद्योष है और न कोई प्रतिपाद्यविद्योष, तब प्रथम सूत्रकी रचना असंगत है ? इस अनुपपत्तिका परिहार करते हुए वे कहते हैं कि मुनीन्द्र (सूत्रकार) ने 'मोक्षमार्गरथं नेतारम्' आदि मङ्गलस्तोत्र द्वारा सर्वज्ञ, बोतरण और मोक्षमार्थके नेताकी स्तुति करके सिद्ध कर दिया है कि मोक्षमार्गका प्रवक्ताविद्योष है और प्रतिपाद्यविद्योष भी । और इसलिए भावी श्रेयसे युक्त होनेवाले ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्माकी मोक्षमार्गको जाननेकी अभिलाषा होनेपर सूत्रकारद्वारा प्रथम सूत्रका रचा जाना संगत है । विद्यानन्द-का यह पूरा स्थल इस प्रकार है :—

'अनु च स्थार्थाहस्त्वाविसूत्रं तावदनुपपत्तं प्रवक्तुविद्येवस्थाभावे-
उपि प्रतिपाद्यविद्योषस्य च कस्यचित्प्रतिपित्तायामेव प्रबुद्धस्त्वावित्यनुपपत्ति-
कोवनायामुत्सरमाह—'

प्रबुद्धाशेषतस्त्वार्थं साक्षात्कश्चीकासमये ।
सिद्धे भूतोन्वृत्संस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥
सत्यां तत्प्रतिपित्तायामुपयोगात्मकात्मनः ।
श्रेयसा योक्त्यमाणस्य प्रबुद्धं सूत्रमाविद्यम् ॥
तेनोपपत्तमेवेति तात्पर्यम् ।'

३० इलोक० प० ४ ।

विद्यानन्दमें यही 'प्रबुद्धाशेषतस्त्वार्थं', 'साक्षात्प्रक्षमीकासमये' और 'मोक्षमार्गस्य नेतरि' पदोंके द्वारा आसके जिन गुणोंका उल्लेख किया है

वे वही हैं जो 'मोक्षागांध्य नेतारम् आदि स्तोत्रम् अभिहित हैं—उसीका यही उन्होंने अनुवाद (शोहराना) किया है। 'सिद्धे भूतीन्द्रसंस्तुत्ये' पर्यके ढारा तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि भूतीन्द्र (सूतकार) ने उनके विशेषणोंसे आपकी स्तुति करनेके बाद ही आदिसूत्र रखा। हमें आश्चर्य है कि विद्यानन्दके जो उल्लेख स्थापनाकारके रचनात्र भी साधक ने होकर उनके लिए 'स्वव्याप्त्योत्पात्त' रूप हैं उन्हें प्रस्तुत करनेका साहस क्यों किया जाता है।

तीसरी स्थापनामें जो उनके स्तोत्रके व्याख्यानस्वरूप आपमीमांसाके लिखे अन्वेषणोंको बात करती है उसमें योद्धा विवाद रही है। तर जब उस स्तोत्रको विद्यानन्दके उल्लेखों द्वारा, जो स्थापनाकारके अभिप्रायके लेख-मात्र भी साधक नहीं हैं, पूज्यपाद-देवनन्दिका सिद्ध करनेकी असफल चेष्टा की जाती है तब भारी आश्चर्य होता है। 'श्रोत्यानारम्भकाले' इस आप्तपरीक्षागत पदका सीधा और प्रकरणसंगत वर्ण है—प्रयत्नारम्भसमयमें अथवा अवतरणारम्भसमयमें। परन्तु इस सीधे अर्थको अङ्गीकार न कर उसका वर्ण किया गया है कि 'उत्थान शब्दका अर्थ है पुस्तक, अताव प्रोत्यान शब्दका अर्थ हुआ प्रकृष्ट उत्थान अर्थात् वृत्ति या व्याख्यान, अताव 'श्रोत्यानारम्भकाले' का अर्थ हुआ व्याख्यानारम्भकाले'। प्रश्न है कि प्रकृष्टशब्दसे वृत्ति या व्याख्यानका अहण कैसे कर लिया गया ? क्योंकि उसका समर्थन न किसी कोषसे होता है और न परम्परागत किसी स्रोत-से। यदि विद्यानन्दको उक्त स्तोत्र पूज्यपाद-देवनन्दिकी वृत्ति (सर्वर्थसिद्धि) का बताना इष्ट होता तो वे इतना बुद्धिव्यायाम न कर पाठकोंको उल्लंघन-में न छालते और 'श्रोत्यानारम्भकाले' न लिखकर 'व्याख्यानारम्भकाले' लिख सकते थे। इसी तरह 'शास्त्रकारैः कृतं' के स्थानपर 'पुस्तिकारैः कृतं' दे सकते थे। इससे इलेक्ट्रोकी रचनामें कोई अंति भी नहीं होती। किन्तु विद्यानन्दको यह सब इष्ट ही नहीं था। वे असन्दर्भ रूपमें उक्त स्तोत्रको लक्ष्याधिकारका मानते थे और उसे शास्त्रकार—न कि वृत्तिकार रचित स्वीकार करते थे और शास्त्रकार या सूत्रकारसे उन्हें आ० गृद्धिष्ठ (उपास्थामी) ही अभिप्रेत थे।

अतः विद्यानन्दके तत्त्वार्थस्तोकवाकित्तगत उक्त उल्लेख, अष्ट-
सहस्रमें आये 'शास्त्रारम्भेऽधिष्ठुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गं प्रक्षेत्रतया'...'
आदि निर्देश और आप्तपरीक्षागत 'शीघ्रतत्त्वार्थं जाद् भूतसलिलनिधेः'...
'प्रोत्त्वामारम्भकारे' 'जास्त्रकारे' कुल यत् । स्तोत्र'...), 'हात तत्त्वार्थ-
षास्त्रादो मुग्नीन्दस्तोत्रगोचरा ।' 'उल्लेखोंसे असन्दिग्ध है कि वे
'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' स्तोत्रका कर्ता जास्त्रकारको मानते हैं और
'जास्त्रकार' से उन्हें एकमात्र तत्त्वार्थसूत्रकार वा० गृह्णपिष्ठ ही विवक्षित
है, सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दन नहीं । विद्यानन्दने अपने सभी
ग्रंथोंमें 'जास्त्रकार' और 'सूत्रकार' पदोंका प्रयोग केवल तत्त्वार्थसूत्रके
कर्त्तकि लिए किया है । इसी प्रकार तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थजास्त्र या निःश्रेयस-
जास्त्र शब्दोंका प्रयोग भी उन्हींके तत्त्वार्थसूत्रके लिए हुआ है, व्यापक
या अस्त्र अर्थमें नहीं, यह हम अपर देख चुके हैं ।

विद्यानन्दके उपर्युक्त उल्लेखोंके अलावा उक्त मञ्जुलिदोकको
सूत्रकार—गृह्णपिष्ठ—उमास्त्रादी कुल बतलाने वाला एक अति स्पष्ट, एवं
व्याख्यान्त उल्लेख और प्राप्त हुआ है । वह निम्न प्रकार है :—

‘गृह्णपिष्ठाचार्यं गायि तत्त्वार्थजास्त्रस्यादो ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’
इतरादिता यात्मनमहात्म्येव परममंगलतया प्रवगमयुक्तस्यात् ।’

गो० जी० म० प्र० टी० पृ० १४ ।

यह उल्लेख सात-आठसौ वर्ष प्राचीन गोमाटसार जीवकाण्डकी
मन्दप्रबोधिका टीकाके रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य अभयचेन्द्र
(१२वीं-१३वीं सदी) का है । इसमें उन्होंने उक्त मञ्जुलस्तोत्रको
गृह्णपिष्ठाचार्यकृत स्पष्ट लिखा है और उसे तत्त्वार्थजास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र)
के आरम्भमें उनके द्वारा रचा गया बतलाया है, उसे पूज्यपाद-देवनन्दनिकी
तत्त्वार्थवृत्तिका नहीं कहा । इससे प्रकट है कि आजसे सातसौ-आठसौ
वर्ष पूर्व भी वह गृह्णपिष्ठाचार्यके तत्त्वार्थसूत्रका मञ्जुल-स्तोत्र माना
जाता था । इस उल्लेखकी एक बात और व्यापक है । वह यह कि
प्राचीन समयमें तत्त्वार्थजास्त्र तत्त्वार्थसूत्रको ही कहा जाता था और
उससे आचार्य गृह्णपिष्ठ रचित तत्त्वार्थसूत्र ही लिया जाता था ।

देवागम और उसकी व्याख्याओंके प्रसङ्गसे इतनी चर्चा करनेके उपरान्त अब उसके कल्पके सम्बन्धमें भी विचार किया जाता है।

२. समन्तभद्र :

इस मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण कृतिके उपस्थापक आचार्य समन्तभद्र हैं, जो साहित्य और शिलालेखोंमें विशिष्ट सम्मानके प्रदर्शक 'स्वामी' पदसे विभूषित मिलते हैं। आ० कुम्भकुन्द और गृद्धिष्ठानके पक्षात् जैन वाङ्मयकी जिस मनीषीते सर्वाधिक प्रभावित किया और पशोभाजन हुआ वह यही स्वामी समन्तभद्र है। इसका पशोगान शिलालेखों तथा वाङ्मय-के मूर्धन्य ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें बहुलतया उपलब्ध है। अकलज्ञदेवने स्याद्वादभागणिणी, वादिराजने सर्वशका प्रदर्शक, मर्क्यगिरिने आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखकोंने वीरशासनकी सहस्रगुणी बुद्धि करनेवाला, भूतकेवलि-सम्भानोन्नायक, समस्तविद्यानिधि, वास्त्रकर्ता एवं कलिकालगणघर कहन कर उनका कीर्तिगान किया है। यथार्थमें जब तत्त्वनिर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उत्तमा ही माना जाने लगा तथा आहूत-परम्परा ऋषभादीतीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-व्यवस्थापक स्याद्वादन्यायको मूलमें लगी, तो इसी महान् आचार्यने उसे उत्तीर्णित एवं प्रभावित किया। अतः ऐसे धारन-प्रभावक और तत्त्वज्ञानप्रसारक मूर्धन्य मनीषीका विद्वानों द्वारा गुणगान हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इसका विस्तृत परिचय और समयादिका निर्णय अद्येय प० जुगल-किशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक इतिहास-चन्द्रमें दिया है। वह इतना प्रभागपूर्ण, अविकल और बोधात्मक है कि ४२ वर्ष बाद सो उसमें संबोधन, परिवर्तन या परिवर्धनकी गुंबाइश प्रतीत नहीं होती। वह आज भी बिलकुल नया और चिन्तनपूर्ण है। उसमें इतनी सामग्री है कि उसपर बोधार्थी अनेक शोध-प्रबन्ध लिख सकते हैं। अतएव यही समन्तभद्रके परिचयादिकी पुनरावृति न करके केवल उनकी उपलब्धियों पर प्रकाश ढालनेका प्रयास करेंगे।

(क) समन्तभद्रसे पूर्वका युग

जैन अनुश्रूतिके अनुसार जैनवर्मके प्रबत्तक क्रमः कालके अन्तरालको लिए चौबीस तीर्थकर हुए हैं। इनमें प्रथम तीर्थकुर ऋषभदेव, दोहसवें अरिष्टनेमि, तेहसवें पार्श्वनाथ और चौबीसवें वर्ममान-महाबीर ती ऐतिहासिक और लोकप्रसिद्ध भी हैं। इन तीर्थकरोंके द्वारा जो उपदेश दिया गया वह द्वादशाङ्कशुत दो भागोंमें विभक्त है—अङ्ग-प्रविष्ट और २. अङ्गवाहण। ये दो मैद प्रबक्ताविहोषके कारण हैं। जो शुत तीर्थकुरों तथा उनके प्रधान एवं साक्षात् जिज्योडारा उक्त है वह अङ्गप्रविष्ट है। तथा जो इसके आचारसे उत्तरवर्ती प्रबक्ताओं द्वारा रचा गया वह अङ्गवाहण है। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गवाहणके भी क्रमः बारह और चारह नैद हैं। अङ्गप्रविष्टके बारह नैदोंमें एक दृष्टिवाद है जो बारहवाँ शुल है। इस बारहवें दृष्टिवादशुतमें^१ विभिन्न वातियोंकी एकान्त दृष्टियों एवं मान्यताओंके अनुरूप और समाधान साथ उक्ता व्याप्तियामात्र सम्भव किया गया है। इस तथ्यको समन्तभद्रने अपनी छतियोंमें 'स्याद्वादिनो भाव तवेव युक्तम्' जैसे वहप्रयोगों द्वारा व्यवत हिया है^२ और सभी तीर्थकुरोंको स्याद्वादी (स्याद्वाद-प्रतिपादक) कहा है। अकलमूद्देवने भी उन्हें स्याद्वादका प्रबक्ता तथा उनके शासन—उपदेशको स्याद्वादके अमोघ लाभसे चिन्हित करताया है।^३

१. '.....एवा दृष्टिशतानां अपाणां अष्ट्युक्तराणां प्रस्तुपणं निश्चलश्च क्रियते ।'—बीरसेन, घवला पुस्तक १, पृ० १०८।

२. बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतु बद्धश्च युक्तश्च फलं च मुक्तोः ।
स्याद्वादिनो नाथ ! तवेव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥

स्यमाभूस्तोऽस्तु १४ ।

३. (क) अर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नभो नमः ।

ऋषभादिमहाबीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

लघीय० का० १—१ ।

बट्टसण्डागममें पथ्यवि स्यादादकी स्वतंत्र चर्चा नहीं मिलती, किर भी सिद्धान्त-प्रतिपादन 'स्यात्' (सिया) शब्दको लिये हुए अवश्य मिलता है। उदाहरणार्थ मनुष्योंको पर्याप्तिक तथा अपर्याप्तिक दोनों बतलाते हुए कहा गया है कि 'सिया पवज्जाता, सिया अपक्षज्जाता' अर्थात् मनुष्य स्यात् पर्याप्तिक है, स्यात् अपर्याप्तिक है। इसी प्रकारसे आगमके कुछ दूसरे विषयोंका भी प्रतिपादन उपलब्ध होता है। आ० कुन्दकुन्दने उन दो (विधि और निषेध) वचन-प्रकारोंमें पौच वचन-प्रकार और मिलाकर सात वचन-प्रकारोंमें वस्तु (द्रव्य) निरूपणका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

सिय अस्ति जस्ति उत्त्वं अञ्जस्तवत्यं पुणी य तस्तिवर्यं ।

दत्त्वं कु सत्तम्भं अत्तेसदसेण संभवति ॥

पंचास्तिकाय गा० १४ ।

'स्यावस्ति द्रव्य स्यात्नास्ति द्रव्यं स्याद्गुभयं स्याववक्तव्यं स्यावस्ति द्रव्यं स्यात्नास्त्यवक्तव्यं स्यावस्तिनास्त्यवक्तव्यं'। इन सात भज्जोंका यही उल्लेख हुआ है और उनको लेकर आवेशवात् (नय-विश्वासानुसार) द्रव्य-निरूपण करनेकी सूचना की है। कुन्दकुन्दने यह भी प्रतिपादन किया है कि यदि सदरूप ही द्रव्य हो तो उसका विनाश नहीं हो सकता। और यदि असदरूप ही हो तो उसका उत्पाद सम्भव नहीं है और चूँकि यह देखा जाता है कि जीव मनुष्यपर्यायसे नष्ट, देवपर्यायसे उत्पन्न और जीवसामान्यसे श्रुत रहनेसे वह उत्पाद-व्यय-क्रीड्यस्वरूप है।

(ल) श्रीमत्परमगमस्मीरस्यादादामोघलांछनम् ।

जीयात् चैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

प्रमाणसं० १-१ ।

(ग) वन्दित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभज्जोर्चिर्षि

स्यादादामृतगम्भिणीं प्रतिहतैकान्तान्तकारोदयाम् ॥

अष्टश० मञ्जुलकल० १ ।

१ पंचास्तिकाय गा० १५, १७ ।

इससे प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दके समयमें जैनवाह्यमयमें दर्शनका रूप तो आये लगा था, परं उसका अभी विकास नहीं हो सका था। आ० गुड़-
पिछ्छके तत्त्वार्थसूत्रमें कुन्दकुन्दद्वारा प्रदर्शित दर्शनके रूपमें कुल वृढ़ि
गिलती है। एक तो उम्होने प्राकृतमें सिद्धान्त-प्रतिपादनकी पद्धतिको
संस्कृत-गद्य सूत्रोमें बदल दिया। दूसरे, उपरस्तिपूर्वक सिद्धान्तोंका निरूपण
आरम्भ किया। तीसरे, आगम-प्रतिपादित ज्ञानमार्गणाशत् मत्यादि ज्ञानों-
की प्रमाण-संज्ञा देना, उसके प्रस्तुत्या और परोक्ष दो भेद करना, दर्शनान्तरों-
में पृथक् व्याख्यानमें स्वीकृत स्मृति, प्राप्यभिज्ञान और अनुभानको भविज्ञान
कहकर उनका 'आच्ये परोक्षम्' (त० सू० १-११) मूलद्वारा परोक्षप्रमाण-
में ही अन्तर्भवि करना और नैगमादि नयोंको अर्थाधिगमका उपाय बताना
आदि नया चिन्तन प्रारम्भ किया। इतना होमेपर भी दर्शनमें उन
एकान्तवादों, संघषों और अनिष्टयोंका ताकिक समाधान नहीं आ पाया
था, जो उस समयकी चर्चाके विषय थे।

(ख) तत्कालीन स्थिति :

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीका समय भारतवर्षके इतिहासमें
दार्शनिक क्रान्तिका समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनोंमें अनेक
क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं। अमण और वैदिक दोनों परम्पराओंमें अक्ष-
धोष, मातृकेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनि जैसे प्रतिदृढ़ी विद्वानों-
का आविभव हुआ और ये सभी अपने मंडन और दूसरेके संडनमें लग गये।
शास्त्रार्थोंकी बाढ़-सी आ गई। सङ्गाद-असङ्गाद, शाश्वतवाद-उच्छ्वेदवाद,
द्यौत्याद-हृत्याद और अवकृत्यवाद-वक्तव्यवाद इन चारै विरोधी युगलोंको
लेकर तत्त्वकी मुख्यतया चर्चा होती थी और उनका चार कोटियोंसे विचार
किया जाता था। तथा वादियोंका अपनी इष्ट एक-एक कोटि (पक्ष) को ही
माननेका आग्रह रहता था। इस खीचतानके कारण अनिष्टय (अज्ञान)

१. 'सदेकनित्यवक्तव्यास्तुत्विपक्षाश्च ये नयाः ।

सर्ववेति प्रदृश्यन्ति पुष्पमिति ह्यादितीह ते ॥

स्वयम्भू० इलो० १०३ ।

वादी संजयके अनुयायी सत्यको अनिश्चित ही बतलाते थे।^१ उपर्युक्त युगलोंमें लगनेवाली चार कोटियाँ इस प्रकार होती थीं—

१. सदसद्वाद

- (१) तत्त्व सत् है ।
- (२) तत्त्व असत् है ।
- (३) तत्त्व उभय है ।
- (४) तत्त्व अनुभय है ।

२. शाश्वत-अशाश्वतवाद

- (१) तत्त्व शाश्वत है ।
- (२) हात शाश्वत है ।
- (३) तत्त्व उभय है ।
- (४) तत्त्व अनुभय है ।

३. द्वैत-अद्वैतवाद

- (१) तत्त्व द्वैत है ।
- (२) तत्त्व अद्वैत है ।
- (३) तत्त्व उभय है ।
- (४) तत्त्व अनुभय है ।

४. वक्तव्यावक्तव्यवाद

- (१) तत्त्व वक्तव्य है ।
- (२) तत्त्व अवक्तव्य है ।
- (३) तत्त्व उभय है ।
- (४) तत्त्व अनुभय है ।

१. दीधनिक्य सामक्षफलसुत्तमे संजयका मत ‘अमराविक्षेपवाद’ के रूपमें भिलता है। अमरा एक प्रकारकी भक्तीका नाम है। उसके समान विक्षेप (चंचलता-अस्थिरता) का होना—मानना अमराविक्षेपवाद है।

(ग) समन्तभद्रकी देन

समन्तभद्रने प्रतिपादन किया कि तत्त्व उक्त चार ही कोटियोंमें समाप्त नहीं है, अपितु सात कोटियोंमें वह पूर्ण होता है ।^१ उम्होने स्पष्ट किया कि तत्त्व तो अनेकान्तरूप है^२—एकान्तरूप नहीं और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों (सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत, एक-अनेक आदि) के युगलके आश्रयसे प्रकाशमें आनेवाले वस्तुगत सात धर्मोंका समुच्चय है^३ और ऐसे-ऐसे अनन्त सप्तधर्म-समुच्चय विराट् अनेकान्तात्मक तत्त्व-सागरमें अनन्त लहरोंकी तरह लहरा रहे हैं और इसीसे उसमें अनन्त सप्तकोटियाँ (सप्तभज्जियाँ) भरी पड़ी हैं । हीं, द्रष्टाको सजग और समदृष्टि होना चाहिए । उसे यह घ्यान रहे कि बक्ता या ज्ञाता तत्त्वको जब अमुक एक कोटिसे कहता या ज्ञाता है तो उसमें वहु की दारुण अपेक्षा से रहता हुआ भी अन्य धर्मोंका निषेधक नहीं है । केवल वहु विवक्षावश

१. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किवृत्तचिद्विधिः ।

सप्तभज्जनयापेक्षो हेयादेपविशेषकः ॥ आप्तमी० का० १०४ ।

२. (अ) 'तत्त्वं लक्नेकान्तस्तमशेषरूपम्'—पुष्टयन० ५६ ।

(आ) एकान्तदृष्टिप्रतिवेदि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं लक्ष्मतत्त्वभावम् ।

स्वयम्भू० ४१ ।

(इ) न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमात्मान्तरं सर्वनिषेषगम्यम् ।

दृष्टं विभिन्नं तदुपाधिभेदात् स्वप्नेऽपि नीतस्वदृष्टेः परेषाम् ॥

—युक्त्य० ३२ ।

३. (क) विविनिपेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिद्विषा एक एव ।

यदों विकल्पास्तव सप्तधाऽभ्यो स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थमेवे ॥

—युक्त्य० ४५ ।

(ख) विषेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तत्

विशेषैः प्रत्येकं मिश्रमविषयैङ्गापरिमितैः ।

सदन्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुणा

त्वया गीतं तत्त्वं बहुतयविक्षेत्रवशात् ॥

स्वयम्भू० ११८ ।

मुल्य और अन्य धर्म गीण हैं।^२ इसे समझनेके लिये उन्होंने प्रत्येक कोटि (भज्ज—वचनप्रकार) के साथ 'स्यात्' निपात-पद रूगानेकी सिफारिश की^३ और 'स्यात्' का अर्थ 'कथञ्चित्'—किसी एक दृष्टि—किसी एक अपेक्षा बतलाया।^४ साथ ही उन्होंने प्रत्येक कोटिकी निर्णयात्मकताको प्रकट करनेके लिए प्रत्येक वाक्यके साथ एवकार पदका प्रयोग भी निर्दिष्ट किया,^५ जिससे उस कोटिकी वास्तविकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सांबृतिकता नहीं। तत्प्रतिपादनकी इन सात कोटियोंको उन्होंने एक नया नाम भी दिया। वह नाम है भज्जनी प्रक्रिया—सप्तभज्जी^६ अथवा सप्तभज्जनय।^७ सप्तभज्जनी वह परिष्कृत सप्तभज्जो इस प्रकार प्रस्तुत हुई—

१. (क) विधिनिषेचनस्य कथञ्चिदिष्टो

विवशाया मुल्यगुणव्यवस्था ।

स्वयम्भू० २५ ।

(ल) विवक्षितो मुल्य इतीव्यतेऽन्यो गुणोऽविक्षी न निरातमकस्ते ।

स्वयम्भू० ५३ ।

२. (अ) वाक्येभ्यनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।

स्यात्मिपातोऽर्थयोगित्वात्तद् केवलिनामपि ॥

आप्तमी० का० १०३ ।

(आ) तद्द्योतनः स्याद् गुणसो निपातः

युक्त्य० ४३ ।

३. स्यात्प्रादः सर्वधैकान्तस्यापात् किञ्चृतचिदिष्टिः ।

आप्तमी० १०४ ।

४. (क) यदेवकारोपहितं पदं तदस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिन्नतः ।

युक्त्य० ४५ ।

(ल) अनुकूल्यं यदनेवकारं व्यावृत्यभावान्तिष्ठानद्येऽपि ।

युक्त्य० ४६ ।

५. प्रक्रियां भज्जनीमेनां मर्यादयविशारदः ।

आप्तमी० २३ ।

६. 'सप्तभज्जनयापेक्षः'..... आप्तमी० १०४ ।

सर्वसत्त्वात्

- (१) स्यात् सदूरप्य ही तत्त्व है । १
- (२) स्यात् असदूरप्य ही तत्त्व है ।
- (३) स्यात् उभयरूप ही तत्त्व है ।
- (४) स्यात् अनुभव (अवकलत्य) रूप ही तत्त्व है ।
- (५) स्यात् मद् और अवकलत्यरूप ही तत्त्व है । २
- (६) स्यात् असद् और अवकलत्यरूप ही तत्त्व है ।
- (७) स्यात् मद् और असद् तथा अवकलत्य रूप ही तत्त्व है ।

इस सातमञ्जुषीमे प्रथम भज्ञ स्वदृष्ट्य-ज्ञेय-काल-भावकी अपेक्षासे, द्वितीय परदृष्ट्य-ज्ञेय-काल-भावकी अपेक्षासे, तृतीय दोनोंकी ममिमिलित अपेक्षाओंसे, चतुर्थ दोनों (सत्त्व-असत्त्व) को एक साथ कहन सकतेहे, पंचम प्रथम-चतुर्थके संयोगसे, एक द्वितीय-चतुर्थके मेलसे और सप्तम-तौय-चतुर्थके मिश्ररूपसे विवक्षित है और प्रत्येक भज्ञका प्रयोजन पृथक्-पृथक् है । यीसा कि समन्तभद्रके निम्न प्रतिपादनसे प्रकट है :

सर्वे सर्वे ओ नेत्राण्यस्त्वस्याविद्यतुह्यात् ।
वासदेव विष्णवोत्तम वेन अवतिष्ठते ॥
कमापितद्यात् इं सं सहायत्यमज्जितातः ।
अवकलत्योत्तराः शोषास्त्रयो भज्ञाः स्वहेतुतः ॥
धर्मे धर्मेऽस्य एवायां अमितोऽनन्तममितः ।
अच्छ्रुत्वेऽस्यत्मानस्य शोषास्ताना त्वज्जलता ॥

आप्तमी० वा० १५, १६, २१ ।

१. कर्वचिसे सदेवेष्टं कर्वश्चिदमदेव तत् ।

तथोमयमवाद्यं च नययोगान्म सर्वया ॥

आप्तमी० १४ ।

२. अवकलत्योत्तराः शोषास्त्रयो भज्ञाः स्वहेतुतः ॥

आप्तमी० १६ ।

समन्वयभद्रने सदसिद्धान्वकी तरह अठैत-हृतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्षतव्य-अदक्षतव्यवाद, अन्यता-अनन्यतावाद, अपेक्षा-अनपेक्षावाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-वहिरर्थवाद, दैव-पुरुषवार्थवाद, पाप-पुण्यवाद और अन्य-मोक्षकारणवाद इन एकान्त बादोंपर भी विचार प्रकट किया तथा उक्त प्रकारसे उनमें भी सप्तभङ्गी (सप्तकोटियों) की योजना करके स्याद्वाद-की स्थापना की ।^१ इस तरह विचारकोंको उन्होंने स्याद्वाद-दृष्टि (तत्त्व-विचारकी पक्षति) देकर तत्कालीन विचार-संघर्षको मिटानेमें महत्वपूर्ण योगदान किया । साथ ही दर्शनके लिए जिन उपादानोंकी आवश्यकता होती है उनका भी उन्होंने सृजन किया तथा आर्हत दर्शनको अन्य दर्शनों-के समकक्ष ही नहीं, उसे गौरवपूर्ण भी बनाया ।

जिन उपादानोंकी उन्होंने सुषिठ करके उन्हें जैन दर्शनको प्रदान किया वे इस प्रकार है :

१. प्रमाणका स्वपरावभासि लक्षण^२ ।
२. प्रमाणके वक्तव्यभावि और क्रमभावि भेदोंकी परिकल्पना^३ ।
३. प्रमाणके साक्षात् और परम्परा कलोंका निरूपण^४ ।
४. प्रमाणका विषय^५
५. नयका स्वरूप^६
६. हेतुका स्वरूप^७
७. स्याद्वादका स्वरूप^८
८. वाच्यका स्वरूप^९
९. वाचकका स्वरूप^{१०}

१. आप्तमी० का० २३, ११३ ।
२. स्वयम्भूस्तोत्र का० ६३ ।
३. आप्तमीमांसा का० १०१ ।
४. उपेक्षा फलभाष्यस्य शोषण्यादान-हान-धोः ।
पूर्वज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ —आप्तमी० १०२ ।
५. आप्तमी० १०७ । ६, ७. आप्तमी० १०६ । ८. आप्तमी० १०४ ।
९. आप्तमी० १११, ११२ ।
१०. आप्तमी० १०९ ।

१०. अभावका वस्तुषर्म-निरूपण एवं भावान्तर-कथन^१
११. तत्त्वका अनेकान्तरूप प्रतिपादन^२
१२. अनेकान्तरका स्वरूप^३
१३. अनेकान्तरमें भी अनेकान्तरकी योजना^४
१४. जैनदर्शनमें अवस्थुका स्वरूप^५
१५. स्थात् निषातका स्वरूप^६
१६. अनुपानसे सर्वज्ञकी सिद्धि^७
१७. युक्तियोंसे स्यादादकी रुचस्या^८
१८. आप्तका तार्किक स्वरूप^९
१९. वस्तु (इच्छ-प्रमेय) का स्वरूप^{१०} ।

‘न च्यायं ह न उपादानोका उपलब्धापन अथवा विकास करनेके कारण ही समन्तभृतको जन्म च्यायका अंगद-प्रबन्धक कहा गया है ।’^{११}

(ध) कृतियाँ

समन्तभृतकी ५ कृतियाँ उपलब्ध हैं :

१. वेदागम—प्रस्तुत हैं ।
 २. स्वयम्भूस्तोत्र—इसमें घोबीस तीर्थंकरोंका वार्षनिकीयीलीमें शुण-स्वतन्त्र हैं । इसमें १४३ पद्म हैं ।
 ३. युक्त्यनुशासन—इसमें भी वीरकी स्तुतिके बहाने वार्षनिक निरूपण है । यह ६४ पद्मोंमें समाप्त है ।
-

- | | | |
|--|----------------------|-----------------------|
| १. ‘भवत्यभावोऽपि च वस्तुषर्मः,
भावान्तरं भाववद्वृत्तस्ते । —युक्त्यनु० ५९ । | २. युक्त्यनु० २३ । | ३. आप्तमी० १०७, १०८ । |
| ४. स्वयम्भूस्तो० १०३ । | ५. आप्तमी० ४८, १०५ । | |
| ६. स्वयम्भू० १०३ । | ७. आप्तमी० ५ । | ८. आप्तमी० ११३ । |
| ९. जैन वर्णन, स्यादादाकू, वर्ष २, अन्त ४-५, पृ० १७० । | | |
| १०. आप्तमी० का० ४, ५, ६ । | | ११. आप्तमी० १०७ । |

४. जिन-शतक (स्तुति-विद्या)—यह ११६ पद्मोंकी आलेकारिक अपूर्व काव्य-रचना है। चौबीस तीर्थकरोंकी इसमें स्तुति की गई है।

५. रहनकरण्डकसावकाचार—यह उपासकाचार विषयक १५० पद्मोंकी अत्यन्त प्राचीन और महत्वपूर्ण संद्वान्तिक कृति है।

इनमें अद्वेदकों तीन दार्शनिक, चोषों काव्य और नृचिवीं धार्मिक कृतियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त भी इनकी जीवसिद्धि जैसी कुछ कृतियोंके उल्लेख मिलते हैं परं वे अनुपलब्ध हैं।

उपसंहार

प्रस्तुत प्रस्तावनामें देवाश्रम और श्वासी समन्तभद्रके सम्बन्धमें प्रकाश ढाला गया है। इसी मन्दिरमें देवाश्रमकी व्याख्याओं और उसकी रचनाके प्रेरणालोकोत्पर भी अनुचिततम् प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तावना यथापि अधिक लम्बी हो गई है तथापि उसमें किया गया विचार पाठकोंको लाभप्रद होगा।

दरबारीलाल कोटिया

१. खेद है कि इस महान् साहित्यकारका २२ दिसम्बर १९६८ को मिथन हो गया। —प्रकाशक, द्वितीय संस्करण।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अनुवादकीय-मंगल-प्रतिज्ञा	२	हेतुसे ?	८
देवागमादि विभूतियों आप्त-		सर्वथैकान्तवादी आप्तोंका	
गुरुत्वकी हेतु नहीं	३	स्वेष्ट प्रमाण-नाधित	९
बहिरन्तविप्रहादिसहोदय		सर्वथैकान्त-रक्तोंके शुभाङ्गाम	
आप्त-गुरुत्वका हेतु नहीं	४	कर्मादिक नहीं बनते	९
तीर्थकरत्व भी आप्त-गुरुत्वका		भावैकान्तकी सदोषता	१५
हेतु नहीं; तब गुरु कौन ?	५	प्रागभाव-प्रध्वंसाभावके विलोप-	
दोषों तथा आवरणोंकी पूर्णतः		में दोष	१६
हाति संभव	६	अन्योऽन्याभाव-अत्यन्ताभावके	
सर्वज्ञ-संस्थिति	७	विलोपमें दोष	१६
निर्दोष सर्वज्ञ कौन और किस		अभावैकान्तकी सदोषता	१७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
उक्त उभय और अवक्तव्य		द्वैतापत्ति	२५
एकान्तोंकी सदोषता	१७	द्वैतके बिना अद्वैत नहीं होता	२६
उक्त एकान्तोंकी निर्दोष-विधि-व्यवस्था	१८	पृथक्त्व-एकान्तकी सदोषता	२७
सत्-असत्-मान्यताकी निर्दोष-विधि	१९	एकलके लोगों रात्रात दिन नहीं बनते	२७
उभय तथा अवक्तव्यकी निर्दोष-मान्यतामें हेतु	२०	शानको ज्ञेयसे सर्वथा मिश्च माननेमें दोष	२८
अस्तित्वधर्म नास्तित्वके साथ अविनाभावी	२०	वन्ननोंको सामान्याधीक माननेमें दोष	२८
नास्तित्वधर्म अस्तित्वके साथ अविनाभावी	२१	उक्त उभय तथा अवक्तव्य	
शब्दगोचर-विशेष विधि		एकान्तोंकी सदोषता	२९
निषेधात्मक	२१	पृथक्त्व-एकत्व एकान्तोंका	
शेष भंग भी नय-योगसे		अवस्तुत्व-वस्तुत्व	३०
अविरोधरूप	२२	एकत्व-पृथक्त्व एकान्तोंकी	
वस्तुका अर्थक्रियाकारित्व कब बनता है	२२	निर्दोष व्यवस्था	३०
भर्म-धर्ममें अर्थभिन्नता और धर्मोंकी मूल्य-गौणता	२३	विवक्षा तथा अविवक्षा सत्की ही होती है	३१
उक्त भंगवती प्रक्रियाकी एका- ज्ञेकादि विकल्पोंमें भी		एक वस्तुमें भेद और अभेदकी अविरोध विधि	३१
योजना	२३	नित्यत्व-एकान्तकी सदोषता	३३
अद्वैत-एकान्तकी सदोषता	२४	प्रमाण और कारकोंके नित्य होनेपर विक्रिया कैसी ?	३४
कर्मफलादिका कोई भी द्वैत नहीं बनता	२५	कार्यके सर्वथा सत् होने पर उत्पत्ति आदि नहीं बनती	३४
हेतु आदिसे अद्वैत-सिद्धिमें		नित्यत्वेकान्तमें पुण्य-पापादि नहीं बनते	३६
		क्षणिक-एकान्तकी सदोषता	३६
		कार्यके सर्वथा असत् होनेपर दोषापत्ति	३७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
क्षणिकैकान्तमें हेतु-फलभावादि नहीं बनते	३७	उत्पाद-व्यय सामान्यका नहीं, विशेषका होता है	५०
संवृति और भूख्यार्थकी स्थिति	३८	उत्पादादिकी भिन्नता और निरपेक्ष होनेपर अवस्तुता	५१
चतुर्षोटि-विकल्पके अवक्तव्य की बोद्ध-मान्यता	३८	एक द्रव्यकी नाशोत्पादस्थिति- में भिन्न शब्दोंकी उत्पत्ति	५२
अवक्तव्यकी उक्त मान्यतामें दोष	३९	वस्तुतत्त्वकी त्रयात्मकता	५३
निषेध सत्का होता है अरात्या नहीं	४०	कार्य-कारणोंकी सर्वथा भिन्नताका एकान्त	५४
अवस्तुकी अवक्तव्यता और वस्तुकी अवस्तुता	४१	उक्त भिन्नतांकान्तमें दोष	५६
सर्वधर्मोंके अवक्तव्य होनेपर उनका कथन नहीं बनता	४२	अनन्यता-एकांतकी सदोषता	५०
व्यवाच्यका हेतु अशक्ति, अभाव या अवोध ?	४३	कार्य-कारणकी आन्तिसे कारणकी स्थानित तथा उभया भावादिक	५१
क्षणिकैकान्तमें हिसा हिसकादि की विडम्बना	४४	कार्य-कारणादिका एकत्व माननेपर दोष	५१
जाशको निर्देशक माननेपर दोषापत्ति	४५	उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता	५२
विरुद्धकार्यारम्भके लिए हेतुकी मान्यतामें दोष	४६	एकता और अनेकताकी निर्दोष व्यवस्था	५३
स्कन्धादिके स्थित्युत्पत्तिव्यय नहीं बनता	४७	सिद्धिके आपेक्षिक-अनापेक्षिक एकान्तोंकी सदोषता	५५
उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता	४९	उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता	५८
नित्य-क्षणिक-एकान्तोंकी निर्दोष व्यवस्थाविधि	५९	उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता	५९

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
हेतु तथा अग्रमसे निर्दोष सिद्धिकी दृष्टि	७१	दैव-पुण्यार्थ-एकान्तोंकी निर्दोष-विधि	८४
अन्तर्गार्थता-एकान्तकी बोद्ध- मान्यता सदोष	७२	परमे दुःख-सुखसे पाप-पुण्यके एकान्तकी सदोषता	८५
विज्ञप्ति-भावताके एकान्तमें साध्य-साधनादि नहीं बनते	७३	स्वमें दुःख-सुखसे पुण्य-पापके एकान्तकी सदोषता	८८
बरिंगार्थता-एकान्तकी सदोषता	७४	उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता	९०
उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता	७५	पुण्य-पापकी निर्दोष व्यवस्था	९०
उक्त दोनों एकान्तोंमें अपेक्षा- भेदसे सामंजस्य	७५	अज्ञानसे बन्धका और अल्प- ज्ञानसे मोक्षका एकान्त	९३
जीवशब्द संज्ञा होनेसे सबाह्यार्थ है	७६	उक्त उभय और अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता	९४
संज्ञात्व-हेतुमें व्यभिचार-दोषका निराकरण	७७	अज्ञान-अल्पज्ञानसे बन्ध-मोक्ष- की निर्दोष-विधि	९४
संज्ञात्व-हेतुमें विज्ञानादैतवादी की शंकाका निरसन	७८	कर्मबन्धानुसार संसार विविधरूप और बद्ध जीव शुद्धिन्यशुद्धिके भेदसे दो भेदरूप	९४
बुद्धि तथा शब्दकी प्रमाणता और सत्याज्ञूतकी व्यवस्था बाह्यार्थके होने न होने पर निर्भर	८०	शुद्धि-अशुद्धि दो शक्तियोंकी सादि-अनादि व्यक्ति	९५
दैवसे सिद्धिके एकान्तकी सदोषता	८१	प्रमाणका लक्षण और उसके भेद	९६
पौरुषसे सिद्धिके एकान्तकी सदोषता	८२	प्रमाणोंका फल	९६
उक्त उभय तथा अवक्तव्य- एकान्तोंकी सदोषता	८४	स्यात्मनिपातकी अर्थ-व्यवस्था	९७
		स्याद्वादका स्वरूप	९८
		स्याद्वाद और केवलज्ञानमें	

मेद-निर्देश	१९	तदसद्गूप वस्तुको तद्रूप ही कहने- वाली वाणी सत्य नहीं	१०३
नय-हेतुका लक्षण	१९	वाक्-स्वभाव-निर्देश,	
इव्यक्ता स्वरूप और भेदोंकी सूचना	१००	तद्द्विन्न-वाक्य अवस्तु	१०४
निरपेक्ष और सामेक्ष नयोंकी स्थिति	१००	अभिप्रेत-विशेषको प्राप्तिका	
वस्तुको विधि-वाक्यादि-द्वारा नियमित किया जाता है	१०१	सच्चा साधन	१०४
		स्थाद्वाद-संस्थिति	१०५
		आप्त-मोमांसाका उद्देश्य	१०६
		अनुवादकीय-अन्त्य-मंगल	„

प्रथम परिच्छेद

देवागमादि विभूतियों आप-गुरुत्वकी हेतु नहीं
देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

(हे बीरजिन !) देवोंके आगमनके कारण—स्वर्गादिके देव आपके जन्मादिक कल्पाणकोंके अवसरणर आपके पास आते हैं इसलिए—आकाशमें गमनके कारण—गगनमें जिना किसी विमानादिको सहायताके आपका सहज स्वभावसे विचरण होता है इस हेतु—और चामरादि-विभूतियोंके कारण—चंद्र, छन्त्र, सिंहासन, देवदुन्दुभि, पूषपवृष्टि, अशोकवृक्ष, भासण्डल और दिव्यध्वनि-जैसे अष्ट प्रातिहायीका तथा समवसरणकी दूसरी विभूतियोंका आपके अथवा आपके निमित्त प्रादुर्भाव होता है इसकी वजहसे—आप हमारे—मुझ—जैसे परीक्षा-प्रधानियोंके—गुरु-पूज्य अथवा आप्तपुरुष नहीं हैं भले ही समाजके दूसरे लोग या अन्य लौकिक जन इन देवागमनादि अतिशयोंके कारण आपको गुरु, पूज्य अथवा आप्त मानते हों। क्योंकि वे अतिशय मायाविष्योंमें—मस्करि-पूरणादि इन्द्रजालियोंमें भी बेले जाते हैं। इनके कारण ही यदि आप गुरु, पूज्य अथवा आप्त हों तो वे मायावी इन्द्रजालिये भी गुरु, पूज्य तथा आप्त छहरते हैं; जब कि वे वैसे नहीं हैं। अतः उक्त कारण-कलाप व्यभिचार-दोषसे दूषित होनेके कारण अनेकान्तिक हेतु है, उससे आपकी गुस्ता एवं विशिष्टताको पृथक्

रूपसे लक्षित नहीं किया जा सकता और न दूसरोंपर उसे स्थापित हो किया जा सकता है ।'

(यदि यह कहा जाय कि उन मायावियोंमें थे आत्मशय सच्चे नहीं होते—बनावटी होते हैं—और आपके साथ इनका सम्बन्ध सच्चा है तो इसका नियामक और निणायिक कौन ? आगमको यदि नियामक और निणायिक बतलाया जाय तो आगम उन मायावियोंका भी है—वे अपने वचनरूप आगमके द्वारा उन असिंशयोंको मायावारजन्य होनेपर भी सत्य हो प्रतिपादित करते हैं । और यदि अपने ही आगम (जैनागम) को इस विषयमें प्रमाण माना जाय तो उक्त हेतु आगमाश्रित छहरता है, और एक मात्र उसीके द्वारा दूसरोंको घथार्थं बस्तु-स्थितिका प्रत्यय एवं विश्वास नहीं कराया जा सकता । अतः उक्त कारण-कलापरूप हेतु आपकी महानता एवं आप्तताको व्यक्त करनेमें असमर्थ है और इसीसे मेरे जैसोंके लिए एक प्रकारसे उपेक्षणीय है ।)

बहिरस्तविग्रहादिमहोदय आप्तन्युरुत्वका हेतु नहीं

अच्यात्मं बहिरस्त्वेष विग्रहादि-महोदयः ।

दिव्यः सत्यो दिवीकस्त्वप्यस्ति रागादिमन्तु सः ॥२॥

'यह जो आपके शरीरादिका अन्तर्बाह्य महान् उदय है—अन्तरंगमें शरीर क्षुधा-तृष्णा-जरा-रोग-आगमूल्यु आदिके अभावको और बाह्यमें प्रभापूर्ण अनुपम सौन्दर्यके साथ गौर-कर्ण-हथिरके संचार-सहित निःस्वेदता, सुरभिता एवं निर्मलताको लिए हुए है—जो साथ ही दिव्य है—अमानुषिक है—तथा सत्य है—मायादिरूप मिथ्या न होकर वास्तविक है और मायावियोंमें नहीं पाया जाता—, (उसीके कारण यदि आपको महान्, पूज्य एवं आप्तपुरुष माना जाय, तो यह हेतु भी व्यभिचार-दोषसे दूषित है; वयोंकि) वह (विग्रहादि-महोदय) रागादिसे युक्त—राग-

द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि कथाओंसे अभिभूत—स्वर्गोंके देवोंमें भी पाया जाता है—हट्टी यदि महावता एवं उपर्युक्त हेतु हो तो स्वर्गोंके राणी, द्वेषी, कामी तथा क्रोधादिकथाय-दोषोंसे दूषित देव भी महाव पूज्य एवं आप्त छहरें; परन्तु वे वैसे नहीं हैं, अतः इस 'अन्तर्बाह्य-विग्रहादि-महोदय' विशेषणके मायावियोंमें न पाये जानेपर भी रागादिमात् देवोंमें उसका सत्त्व होनेके कारण वह व्यावृत्ति-हेतुक नहीं रहता और इसलिए उससे भी आप-जैसे आप्त-गुरुओंका कोई पृथक् बोध नहीं हो सकता ।

(यदि यह कहा जाय कि घातिया कर्मोंका अभाव होनेपर जिस प्रकारका विग्रहादि-महोदय आपके प्रकट होता है उस प्रकारका विग्रहादि-महोदय रागादियुक्त देवोंमें नहीं होता तो इसका क्या प्रमाण ? दोनोंका विग्रहादि-महोदय अपने प्रत्यक्ष नहीं है, जिससे तुलना की जा सके । यदि अपने ही आगमको इस विषयमें प्रमाण माना जाय तो यह हेतु भी आगमाधित छहरता है और एक मात्र इसीसे दूसरोंको यथार्थ वस्तु-स्थितिका प्रत्यय एवं विच्वास नहीं कराया जा सकता । अतः यह विग्रहादि-महोदय हेतु भी आपकी महानता व्यक्त करनेमें असमर्थ होनेसे मेरे जैसोंके लिए उपेक्षणीय है ।)

तीर्थकरत्व भी आप्त-गुरुत्वका हेतु नहीं; तब गुरु कौन ?

तीर्थकृत्समयानां च परस्पर-विरोधतः ।

सर्वाषामाप्तता नास्ति, कश्चिदेव अवेदूगुरुः ॥३॥

(यदि यह कहा जाय कि आप तीर्थकर हैं—संसारसे पार उत्तरनेके उपायस्वरूप आगम-तीर्थके प्रवर्तक हैं—और इसलिए आप्त-सर्वज्ञ होनेसे महान् हैं, तो यह कहना भी समुचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि तीर्थकर तो दूसरे सुगतादिक भी कहलाते हैं और वे भी संसारसे पार उत्तरने अथवा निर्दृति प्राप्त करनेके

उपायस्वरूप आगमतीर्थके प्रवर्तक माने जाते हैं, तब के सब भी आप्त-सर्वज्ञ ठहरते हैं, अतः तीर्थकरत्व हेतु भी व्यभिचार-दोषसे दूषित है। और यदि सभी तीर्थकरोंको आप्त अथवा सर्वज्ञ माना जाय तो यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि) तीर्थकरोंकि आगमोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है, जो कि सभीके आप्त होनेपर नहीं होता चाहिए। अतः इस विरोधशोषके कारण सभी तीर्थकरोंके आप्तता—निर्दोष-सर्वशक्ता—घटित नहीं होती।

(इसे ठीक मानकर यदि यह ऐड़ा जाय कि क्या उन परस्पर-विरुद्ध आगमके प्रस्तुपक सभी तीर्थकरोंमें कोई एक भी आप्त नहीं है और यदि है तो वह कौन है? इसका उत्तर इसला ही है कि) उनमें कोई तीर्थकर आप्त अवश्य हो सकता है और वह वही पुरुष हो सकता है जो जित ही हो—चेतन्यके पूर्ण विकासको लिए हुए हो, अर्थात् जिसमें दोषों तथा आवरणोंकी पूर्णतः हानि होकर शुद्ध चेतन्य निखर आया हो।'

दोषोऽवरणयोर्हानिनिःशेषाऽस्त्यतिशायनात् ।

क्वचिद्बधा स्वहेतुभ्यो वहिरन्तर्मलधयः ॥४॥

'(यदि यह कहा जाय कि ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जिसमें अज्ञान-रागादिक दोषों तथा उनके कारणभूत कर्म-आवरणोंकी पूर्णतः हानि सम्भव हो तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि) दोषों तथा दोषोंके कारणोंकी कहीं-कहीं सातिशय हानि देखनेमें आती है—अनेक पुरुषोंमें अज्ञान तथा राग-द्वय-काम-क्रोधादिक दोषोंकी एवं उनके कारणोंकी उत्तरोत्तर बहुत कमी पाई जाती है—और इसलिए किसी पुरुष-विक्षेपमें विरोधी कारणोंको पाकर उनका पूर्णतः अभाव होना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार कि (सुवर्णादिकमें) मल-विरोधी कारणोंको पाकर बाह्य और अस्तरण

मलका पूर्णतः अथ हो जाता है—अधीनि जिस प्रकार किट्ट-कालिमादि मलसे बद्ध हुआ सुवर्णं अग्निप्रयोगादिरूप योग्य साधनोंको पाकर उस सारे बाहरी तथा भीतरी मलसे चिह्नित हुआ अपने शुद्ध सुवर्णरूपमें परिणत हो जाता है उसी प्रकार द्रव्य तथा भावरूप कर्ममलसे बद्ध हुआ अथ जीव सम्पदवानादि योग्य साधनोंके बलपर उस कर्ममलको पूर्णरूपसे दूर करके अपने शुद्धात्मरूपमें परिणत हो जाता है। अतः किसी पुरुष-विशेषमें दोषों तथा उनके कारणोंकी पूर्णतः हानि होना असम्भव नहीं है। जिस पुरुषमें दोषों तथा आवरणोंकी यह निःशेष हानि होती है वही पुरुष आप्त अथवा निर्दोष सर्वज्ञ एवं लोकगुरु होता है।'

सर्वज्ञ-भृत्यति

श्रहमान्तरित-दूराधीः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्वाथा ।

अनुभेयत्वाद्देवत्यादितिः उर्वाश-संस्थितिः ॥५॥

(यदि यह कहा जाय कि दोषों तथा आवरणोंकी पूर्णतः हानि होनेपर भी कोई मनुष्य अतीत-अनागतकाल-सम्बन्धी सब पदार्थोंको, अतिदूरवर्ती सारे वर्तमान पदार्थोंको और सम्पूर्ण सूक्ष्म-पदार्थोंको साक्षात् रूपसे नहीं जान सकता है तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि,) सूक्ष्मपदार्थ—स्वभावविप्रकर्षि परमाणु आदिक—, अन्तरित पदार्थ—कालसे अन्तरको लिये हुए कालविप्रकर्षि राम-रावणादिक—, और दूरवर्ती पदार्थ—क्षेत्रसे अन्तरको लिये हुए क्षेत्रविप्रकर्षि मेरु—हिमवानादिक—, अनुभेय (अनुमानका अथवा प्रमाणका विषय) होनेसे किसी-न-किसीके प्रत्यक्ष जरूर हैं;

१. प्रमाणका विषय 'प्रमेय' कहलाता है। अनुभेयका अर्थ 'अनुगत मेयं मानं येषां ते अनुमेयाः प्रमेया इत्यर्थः' इस वस्तुनिवाचार्यके वाक्यानुसार 'प्रमेय' भी हीता है और इस तरह अनुभेयत्व हेतुमें प्रमेयत्व हेतु भी गर्भित है।

जैसे अग्नि आधिक पवार्य औ अनुमान या प्रमाणका विषय हैं वे किसीके प्रत्यक्ष ज़रूर हैं। जिसके सूख्य, अन्तरित और दूरवर्ती पवार्य प्रत्यक्ष हैं वह सर्वज्ञ हैं। इस प्रकार सर्वज्ञकी सम्यक् स्थिति, अवश्या अथवा सिद्धि भले प्रकार मुघ्यित है।^१

निर्दोष सर्वज्ञ कौन और किस हेतुमे

**स त्वमेवाऽमि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥**

'(हे वीर जिन !) वह निर्दोष—अशाप रादो शार्दृष्ट-दोषोंसे रहित वीतराग और सर्वज्ञ—आप ही हैं; क्योंकि आप युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक् हैं—आपका वचन (किसी भी तत्त्व-विषयमें) युक्ति और शास्त्रके विरोधको लिये हुए नहीं है। और यह अविरोध इस सरहसे लभित होता है कि आपका जो इष्ट है—मोक्षादितत्वरूप अभिमत—अनेकान्तशासन है—वह प्रसिद्धसे—प्रमाणसे अथवा पर-प्रसिद्ध एकान्तसे—बाधित नहीं है; जब कि द्वासरोंका (कपिल-सुगतादिकक्ष) जो सर्वथा नित्यवाद-अनित्यवादादिरूप एकान्त अभिमत (इष्ट) है वह प्रत्यक्षप्रमाणसे ही नहीं किन्तु पर-प्रसिद्ध अनेकान्तसे भी बाधित है और इसलिए उन सर्वथा एकान्तमतोंके नायकोंमेंसे कोई भी युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक् न होनेसे निर्दोष एवं सर्वज्ञ नहीं हैं।'

सर्वथैकान्तवद्वी आसीका स्वेष्ट प्रमाण-वाधित

त्वन्मत्ताऽमृत-बाह्यानां सर्वथैकान्त-वादिनाम् ।

आप्ताऽभिमान-दग्धानां स्वेष्ट दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

'जो लोग आदके मतरूपी अमृतसे— अनेकान्तात्मक-वस्तु-तत्त्वके प्रतिपादक आगम (शासन) से, जो कि दुःखनिवृत्ति-लक्षण परमानन्दमय मुक्ति-सुखका निमित्त होनेसे अमृतरूप है—बाह्य

हैं—उसे न मानकर उससे द्वेष रखते हैं—, सर्वथा एकान्तात्मा वी हैं—स्वरूप-पररूप तथा विधि-निषेधरूप सभी प्रकारोंसे एक ही धर्म नित्यत्वादिको मानते एवं प्रतिपादन करनेवाले हैं—और आप्साऽभिभावनसे दरब्बर है—वस्तुतः आप्स-सवंज्ञ न होते हुए भी हम आन्त हैं। इस वहंकारसे मुन् हुए अथवा जले हुएके समान हैं—उनका जो अपना इष्ट है—सर्वथा एकान्तात्मक अभिमत है—वह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है—प्रत्यक्षमें कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य या अनित्यरूप, सर्वथा एक या अनेकरूप, सर्वथा भाव या अभावरूप इत्यादि नजर नहीं आती—अथवा यों कहिये कि प्रत्यक्ष-सिद्ध अनेकान्तात्मक वस्तु-तत्त्वके साथ साक्षात् विरोधको लिये हुए होनेके कारण अमान्य है।'

सर्वथैकान्त-रक्तोंके शुभाज्जुभक्तभादिक नहीं बनते

कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न लब्धचित् ।

एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ स्व-पर-वैरिपु ॥८॥

‘जो लोग एकान्तके प्रहृष्ट-स्वीकरणम् आसत्त हैं, अथवा एकान्तरूप यहके बशीभूत हुए उसीके रंगमे रंगे हैं—सर्वथा एकान्त-यक्षके पक्षपाती एवं भक्त बने हुए हैं और अनेकान्तको नहीं मानते, वस्तुमें अनेक गुण-धर्मों (अन्तों) के होते हुए भी उसे एक ही गुण-धर्म (अन्त) रूप अंगीकार करते हैं—(और इसीसे) जो स्व-परके बैरी हैं—दूसरोंके सिद्धान्तोंका विरोध कर उन्होंके शत्रु नहीं, किन्तु अपने एक सिद्धान्तसे अपने दूसरे सिद्धान्तोंका विरोध कर और इस तरह अपने किसी भी सिद्धान्तको प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ न होकर अपने भी शत्रु बने हुए हैं—, उनमेंसे प्रायः किसीके भी यहाँ अथवा किसीके भी मतमें, हे और भगवन् ! न तो कोई शुभ कर्म अनता है, न अशुभ कर्म, न परलोक (अन्य अन्म) बनता है और (चकारसे) यह लोक

(जन्म) भी नहीं बनता, शुभ-अशुभ कर्मोंका फल भी नहीं बनता और न बन्ध तथा मोक्ष ही बनते हैं—किसी भी तत्त्व अथवा पदार्थकी सम्यक् व्यवस्था नहीं बैठती। और इस तरह उनका मत प्रत्यक्षसे ही बाधित नहीं, बल्कि अपने हृष्टका भी बाधक है।

उपास्या—बास्तवमें प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसमें अनेक अन्तःधर्म, गुण-स्वभाव, अंग अथवा अंश हैं। जो मनुष्य किसी भी वस्तुको एक तरफ़से देखता है—उसके एक ही अन्तःधर्म अथवा गुण-स्वभावपर हृष्ट डालता है—वह उसका सम्यग्दृष्टा (उसे ठीक तौरसे देखने—पहचाननेवाला) नहीं कहला सकता। सम्यग्दृष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिये और उसके सब अन्तों, अंगों, धर्मों अथवा स्वभावों-पर नजर डालनी चाहिये। सिक्केके एक ही मुखको देखकर सिक्केका निर्णय करनेवाला उस सिक्केको दूसरे मुखसे पढ़ा देखकर वह सिक्का नहीं समझता और इसलिये धोखा खाता है। इसीसे अनेकान्तहृष्टिको सम्याहृष्टि और एकान्तहृष्टिको मिथ्याहृष्टि कहा है।

जो मनुष्य किसी वस्तुके एक ही अन्त, अग, धर्म अथवा गुण-स्वभावको देखकर उसे उस ही स्वरूप मानता है—दूसरे रूप स्वीकार नहीं करता—और इस तरह अपनी एकान्त-धारणा बना लेता है और उसे ही जैसे तैसे पृष्ठ किया करता है, उसको 'एकान्त-ग्रहरक', एकान्तपक्षापाती अथवा सर्वथा एकान्तवादी कहते हैं। ऐसे मनुष्य हाथीके स्वरूपका विधान करनेवाले जन्मान्ध पुरुषोंको तरह आपसमें लड़ते-झगड़ते हैं और एक दूसरेसे जागृता धारण करके जहाँ परके बँरी बनते हैं वहाँ अपनेको हाथीके

१. अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।

ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥

विषयमें अज्ञानी रखकर अपना भी अहित साधन करनेवाले तथा कभी भी हाथीसे हाथीका काम लेनेमें समर्थ न हो सकनेवाले उन जन्मान्धोंकी तरह, अपनेको वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ रखकर अपना भी अहित साधन करते हैं और अपनी मान्यताको छोड़े अथवा उसकी उपेक्षा किये बिना कभी भी उस बहनसे उस बस्तु-का ठीक काम लेनेमें समर्थ नहीं हो सकते और ठीक काम लेनेके लिये मान्यताको छोड़ने अथवा उसकी उपेक्षा करनेपर स्वसिद्धान्त-विरोधी ठहरते हैं; इस तरह दोनों ही प्रकारसे वे अपने भी बैरी होते हैं। नीचे एक उदाहरण-द्वारा इस वातको और भी स्पष्ट करके बतलाया जाता है—

एक मनुष्य किसी बैद्यको एक रोगीपर कुचलेका प्रयोग करता हुआ देखता है और यह कहते हुए भी सुनता है कि 'कुचला जीवनदाता है, रोगको नशाता है और जीवनी शक्तिको बढ़ाता है।' साथ ही, वह यह भी अनुभव करता है कि वह रोगी कुचले-के खानेसे अच्छा तन्दुरुस्त तथा हृष्ट-नुष्ट हो गया। इसपरसे वह अपनी यह एकान्त धारणा बना लेता है कि 'कुचला जीवनदाता है, रोग नशाता है और जीवनी शक्तिको बढ़ाकर मनुष्यको हृष्ट-पृष्ट धनाता है'। उसे मालूम नहीं कि कुचलेमें मारनेका—जीवन-को नष्ट कर देनेका—भी गुण है, और उसका प्रयोग सब रोगों तथा सब अवस्थाओंमें समानरूपसे नहीं किया जा सकता; न उसे मात्राकी ठीक खबर है, और न यही पता है कि वह बैद्य भी कुचलेके दूसरे मारकगुणसे परिचित था, और इसलिये जब वह उसे जीवनी शक्तिको बढ़ानेके काममें लाता था तब वह दूसरी दवाहयोंके साथमें उसका प्रयोग करके उसकी मारक शक्तिको दवा देता था अथवा उसे उन जीव-जन्मान्धोंके घातके काममें लेता था जो रोगीके शरीरमें जीवनी शक्तिको नष्ट कर रहे हों। और इसलिये वह मनुष्य अपनी उस एकान्त-धारणाके अनुसार अनेक रोगियोंको कुचला देता है तथा जल्दी अच्छा करनेकी घुनमें

अधिक मात्रामें भी दे देता है। नतीजा यह होता है कि वे रोगी भर जाते हैं या अधिक कष्ट तथा बेदना उठाते हैं और वह मनुष्य कुचलेका ठीक प्रयोग न जानकर उसका मिथ्या प्रयोग करनेके कारण दण्ड पाता है, तथा कभी स्वयं कुचला खाकर अपनी प्राणहानि भी कर डालता है। इस तरह कुचलेके विषयमें एकान्त आश्रद्ध रखनेलाला जिस प्रकार स्व-पर-बैरी होता है उसी प्रकार दूसरी वस्तुओंके विषयमें भी एकान्त हठ पकड़नेवालोंको स्व-पर-बैरी समझना चाहिये।

सब पूछिये तो जो अनेकान्तके द्वेषी हैं वे अपने एकान्तके भी द्वेषी हैं; क्योंकि अनेकान्तके बिना वे एकान्तको प्रतिष्ठित न हों कर सकते—अनेकान्तके बिना एकान्तका अस्तित्व उसी त ह नहीं बन सकता जिस तरह कि सामान्यके बिना विशेषका या द्रव्यके बिना पर्याप्तिका अस्तित्व नहीं बनता। सामान्य और विशेष, अस्तित्व और नास्तित्व तथा नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म जिस प्रकार परस्परमें अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए हैं—एकके बिना दूसरेका सञ्चाल नहीं बनता—उसी प्रकार एकान्त और अनेकान्तमें भी परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है। ये सब सप्रतिपक्षधर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाको लिए हुए होते हैं। उदाहरणके तौरपर अनामिका अंगुली छोटी भी है और बड़ी भी कनिष्ठासे वह बड़ी है और मध्यमासे छोटी है। इस तरह अनामिकामें छोटापन और बड़ापन दोनों धर्म सापेक्ष हैं, अथवा छोटी है और छोटी नहीं है ऐसे छोटेपनके अस्तित्व और नास्तित्वरूप दो अविनाभावी धर्म भी उसमें सापेक्षरूपसे गाये जाते हैं—अपेक्षाको छोड़ देनेपर दोनोंमेंसे कोई भी धर्म नहीं बनता। इसी प्रकार नदीके प्रत्येक तटमें इस पारपन और उस पारपनके दोनों धर्म होते हैं और वे सापेक्ष होनेसे ही अविरोधरूप रहते हैं।

जो धर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाको लिये हुए होते हैं वे अपने और दूसरेको उपकारी (मित्र) होते हैं और अपनी तथा

दूसरेकी सत्ताको बनाये रखते हैं। और जो धर्म परस्पर अपेक्षाको लिये हुए नहीं होते वे अपने और दूसरेके अपकारी (शत्रु) होते हैं—स्व-गर-प्रणाशक होते हैं, और इसलिये न अपनी सत्ताको कायम रख सकते हैं और न दूसरेकी। इसीसे स्वामी समन्वयने अपने स्वयंभूस्तोत्रमें भी—

“मिथ्याऽनपेक्षा स्व-पर-प्रणाशिनः”

“परस्परेक्षा स्व-परोपकारिणः”

इन वाक्योंके द्वारा इसी सिद्धान्तकी स्पष्ट घोषणा की है। आप निरपेक्ष नयोंको मिथ्या और सापेक्ष नयोंको सम्यक् बताते हैं। आपके विचारसे निरपेक्ष नयोंका विषय अर्थक्रियाकारी न होनेसे अवस्तु है और सापेक्ष नयोंका विषय अर्थकृत (परोजनसाधक) होनेसे वस्तुतत्त्व है^१, निरपेक्ष नयोंका विषय ‘मिथ्या एकान्त’ और सापेक्ष नयोंका विषय ‘सम्यक् एकान्त’ है। और यह सम्यक् एकान्त ही प्रस्तुत अनेकान्तके साथ अदिनाभावसम्बन्धको लिये हुए है। जो मिथ्या एकान्तके उपासक होते हैं उन्हें ही ‘एकान्त-अहरवत्’ कहा गया है, वे ही ‘सर्वथा एकान्तवादी’ कहलाते हैं और उन्हें ही यहाँ ‘स्वपरवैरी’ समझना चाहिये। जो सम्यक् एकान्तके उपासक होते हैं उन्हें ‘एकान्तअहरवत्’ नहीं कहते, उनका नेता ‘स्यात्’ पद होता है, वे उस एकान्तको कथंचित् रूपसे स्वीकार करते हैं, इसलिये उसमें सर्वथा आसवत नहीं होते और न प्रतिपक्ष-धर्मका विरोध अथवा निराकरण ही करते हैं—सापेक्षावस्थामें विचारके समय प्रतिपक्ष-धर्मकी अपेक्षा न होनेसे उसके प्रति एक प्रकारकी उपेक्षा तो होती है किन्तु उसका विरोध अथवा निराकरण नहीं होता। और इसीसे वे ‘स्व-पर-वैरी’ नहीं कहे जा सकते। अतः स्वामी समन्वयनका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि ‘जो एकान्तअहरवत् होते हैं वे स्वपरवैरी होते हैं।’

१. निरपेक्षा नया मिथ्या: सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत ॥ —देवागम १०८

अब देखना यह है कि ऐसे स्व-परन्वेरी एकान्तवादियोंके मतमें शुभ-अशुभ-कर्म, कर्मफल —सुख-दुःख, जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और बन्ध-मोक्षादिकों व्यवस्था कैसे नहीं बन सकती । बात बिल्कुल स्पष्ट है, ये सब व्यवस्थाएँ चौंकि अनेकान्ताभित हैं—अनेकान्तके आश्रय बिना इन परस्पर विरुद्ध मालूम पड़नेवाली सापेक्ष व्यवस्थाओंकी कोई स्वतन्त्र सत्ता अधिका व्यवस्था नहीं बन सकती—इसलिये जो अनेकान्तके बंरी हैं—अनेकान्त-सिद्धान्तसे द्वेष रखते हैं—उनके यहीं ये सब व्यवस्थाएँ सुघटित नहीं हो सकतीं । अनेकान्तके प्रातिषेधसे क्रम-अक्रमका प्रतिषेध हो जाता है; क्योंकि क्रम-अक्रमकी अनेकान्तके साथ व्याप्ति है । जब अनेकान्त ही नहीं तब क्रम-अक्रमकी व्यवस्था कैसे बन सकती है ? अर्थात् द्रव्यके अभावमें जिस प्रकार गुण-पर्यायिकी और वृक्षके अभावमें शीशाम, जामन, नीम, आम्रादिकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती उसी प्रकार अनेकान्तके अभावमें क्रम-अक्रमकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती । क्रम-अक्रमकी व्यवस्था न बननेसे अर्थक्रियाका निषेध हो जाता है; क्योंकि अर्थक्रियाकी क्रम-बक्रमके साथ व्याप्ति है । और अर्थक्रियाके अभावमें कर्मादिक नहीं बन सकते—कर्मादिककी अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति है । जब शुभ-अशुभ-कर्म ही नहीं बन सकते तब उनका फल सुख-दुःख, फल-भोगका क्षेत्र जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और कर्मोंसे बंधने तथा छूटनेकी बात तो कैसे बन सकती है ? सारांश यह कि अनेकान्तके आश्रय बिना ये सब शुभ-अशुभ-कर्मादिक निराश्रित हो जाते हैं, और इसलिए सर्वथा नित्यत्वादि एकान्तवादियोंके मतमें इनकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं बन सकती । वे यदि इन्हें मानते हैं और तपश्चरणादिके अनुष्ठान-द्वारा सत्कर्मोंका अर्जन करके उनका सत्कल लेना चाहते हैं अथवा कर्मोंसे मुक्त होना चाहते हैं तो वे अपने इस इष्टको अनेकान्तका विरोध करके बाधा पहुंचाते हैं, और इस तरह भी अपनेको स्व-परन्वेरी सिद्ध करते हैं ।

वस्तुतः अनेकान्त, भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि एकान्तनयोंके विरोधको मिटाकर, वस्तुतत्त्वकी सम्यक्-ध्यवस्था करनेवाला है; इसीसे लोक-ध्यवहारका सम्यक् प्रवर्तक है—विना अनेकान्तका आश्रय लिये लोकका ध्यवहार उत्तेजित हो जाता है। नहीं, और न परम्परका वैर-विरोध ही मिट सकता है। इसीलिये अनेकान्तको परमागमका बीज और लोकका अद्वितीय गुरु कहा गया है—‘वह सबोंके लिये सन्मार्ग-प्रदर्शक है’। जैनी नीतिका भी वही मूलाधार है। जो लोग अनेकान्तका सचमुच आश्रय लेते हैं वे कभी स्व-परचौरी नहीं होते, उनसे पाप नहीं बनते, उन्हें आपदाएं नहीं सतातीं, और वे लोकमें सदा ही उन्नत उदार तथा जयशील बने रहते हैं।

भावकास्तकी सदोषता

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपल्लवात् ।

सर्वात्मकेमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥

(‘हे वीर भगवन् !) यदि पदार्थोंके भाव (अस्तित्व) का एकान्त माना जाय—यह कहा जाय कि सब पदार्थ सर्वथा सत् रूप ही हैं, असत् (नास्तित्व) रूप कभी कोई पदार्थ नहीं है—तो इससे वभाव पदार्थोंका—प्रागभाव, प्रध्यंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावरूप वस्तु-घर्मोंका—लोप ठहरता है, और इन वस्तु-घर्मोंका लोप करनेसे वस्तुतत्त्व (यत्या) अतावि, अनन्त, सर्वारम्भक और अस्वरूप हो जाता है, जो कि आपका इष्ट नहीं है—प्रत्यक्षादिके विषद् होनेसे आपका मत नहीं है ।^१

(किस अभावका लोप करनेसे क्या हो जाता अथवा क्या दोष बाता है, उसका स्पष्टीकरण आगे किया गया है)

१. नीति-विरोध-धर्मसी लोकध्यवहारवर्तकः सम्यक् ।

परमागमस्य बीजं भूवनैर्गुरुर्ज्यवित्यनेकान्तः ॥

प्रागभाव-प्रधंसाभावके विलोपमें दोष

कार्य-द्रव्यमनादि स्यात्प्रामभावस्य निहृते ।

प्रधंसस्य च धर्मस्य प्रल्यवेऽनन्ततां ब्रजोत् ॥१०॥

‘प्रागभावका यदि लोप किया जाय—कार्यरूप द्रव्यका अपने उत्पादसे पहले उस कार्यरूपमें अभाव था, इस बातको न माना जाय—तो वह कार्यरूप द्रव्य—घटादिक अथवा शब्दादिक—अनरोदि ठहरता है—और अनादि वह है नहीं, एक समय उत्पन्न हुआ, यह बात प्रत्यक्ष है। यदि प्रधंस अर्थका लोप किया जाय—कार्यद्रव्यमें अपने उस कार्यरूपसे विनाशकी शक्ति है और इसलिए वह बादको किसी समय प्रधंसाभावरूप भी होता है, इस बातको यदि न माना जाय—तो वह कार्यरूप द्रव्य—घटादिक अथवा शब्दादिक—अनन्तता—प्रविनाशिताको प्राप्त होता है—और अविनाशी वह है नहीं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, प्रत्यक्षमें घटादिक तथा शब्दादिक कार्योंका विनाश होते देखा जाता है। अतः प्रागभाव और प्रधंसाभावका लोप करके कार्यद्रव्यको उत्पत्ति और विनाश-विहीन सदासे एक ही रूपमें स्थिर (सर्वथा नित्य) मानना प्रत्यक्ष-विरोधके दोषसे दूषित है और इसलिए प्रागभाव तथा प्रधंसाभावका लोप किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जा सकता। इन अभावोंको मानना ही होगा।’

अन्योऽन्याभाव-अत्यन्ताभावके विलोपमें दोष

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्याऽपोह-व्यतिक्रमे ।

अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत् सर्वथा ॥११॥

‘यदि अन्याऽपोहका—अन्योन्याभावरूप पदार्थका—व्यतिक्रम किया जाय—वस्तुके एक रूपका दूसरे रूपमें अथवा एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें अभाव है, इस बातको न माना जाय—तो वह

प्रवादियोंका विवरित जगत्पत्त-पक्षका इह एवं स्पष्ट है कि अनिहतताओं का भी उसमें सद्ब्राव होनेसे) अभेदरूप सर्वात्मक ठहरता है— और इसलिए उसकी अलगसे कोई व्यवस्था नहीं बन सकती । यदि अत्यन्ताभावका लोप किया जाय—एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें सर्वथा अभाव है, इसको न माना जाय—तो एक द्रव्यका दूसरेमें समवाय-सम्बन्ध (तावात्म्य) स्वीकृत होता है और ऐसा होनेपर यह चेतन है, यह अचेतन है इत्यादि रूपसे उस एक तत्त्वका सर्वथा भेदरूपसे कोई व्यपवेश (कथन) नहीं बन सकता ।'

अभावैकान्तकी सदोषता

अभावैकान्त-पक्षेऽपि भावाऽपन्हव-वादिनाम् ।

बोध-वाक्यं प्रमाणं न केन साधन-दूषणम् ॥१२॥

'यदि अभावैकान्तपक्षको स्वीकार किया जाय—यह माना जाय कि सभी पदार्थ सर्वथा असत्-रूप हैं—तो इस प्रकार भावोंका सर्वथा अभाव कहनेवालोंके यहाँ (मतमें) बोध (ज्ञान) और वाक्य (आगम) दोनोंका ही अस्तित्व नहीं बनता और दोनोंका अस्तित्व न बननेसे (स्वाधीनुमान, परार्थानुमान आदिके रूपमें) कोई प्रमाण भी नहीं बनता; तब किसके हारा अपमे अभावैकान्त पक्षका साधन किया जा सकता और दूसरे भाव-वादियोंके पक्षमें दूषण दिया जा सकता है ?—स्वपक्ष-साधन और परपक्ष-दूषण दोनों ही घटिस न होनेसे अभावैकान्तपक्ष-वादियोंके पक्षकी कोई सिद्धि अथवा प्रतिष्ठा नहीं बनती और वह सदोष ठहरता है; फलतः अभावैकान्तपक्षके प्रतिपादक सर्वज्ञ एवं महान् नहीं हो सकते ।'

उभय और अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्तोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।

अवाच्यतीकान्तेऽप्युक्तिनाऽवाच्यमिति युज्यते ॥१३॥

'(भावेकान्त और अभावेकान्त दोनोंकी अलग-अलग मान्यतामें दोष देखकर) यदि भाव और अभाव दोनोंका एकात्म्य (उभयेकान्त) माना जाय, तो स्याद्वाद-न्यायके विवेदियोंके यहाँ—उन लोगोंके मतमें जो अस्तित्व-नास्तित्वादि सप्रतिपक्ष धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाकों न मानकर उन्हें स्वतन्त्र धर्मोंके रूपमें स्वीकार करते हैं और इस तरह स्याद्वाद-नीतिके शब्द बने हुए हैं—वह एकात्म्य नहीं बनता; क्योंकि उससे विरोध दोष आता है—भावेकान्त अभावेकान्तका और अभावेकान्त भावेकान्तका सर्वथा विरोधी होनेसे दोनोंमें एकात्मता घटित नहीं हो सकती ।'

'(भाव, अभाव और उभय तीनों एकान्तोंकी मान्यतामें दोष देखकर) यदि अवाच्यता (अवक्तव्य) एकान्तको माना जाय—यह कहा जाय कि वस्तुतत्त्व सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय या अवक्तव्य) है—तो वस्तुतत्त्व 'अवाच्य' है ऐसा कहना भी नहीं बनता—इस कहनेसे ही वह 'वाच्य' दो जाना है, 'अवाच्य' नहीं रहता; क्योंकि सर्वथा अवाच्यकी मान्यतामें कोई वचन-व्यवहार घटित ही नहीं हो सकता ।'

उक्त एकान्तोंकी निर्दोष विधि-व्यवस्था

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।

तथोभयसवाच्यं च नय-योगान्त सर्वथा ॥१४॥

'(स्याद्वाद-न्यायके नायक है वीर भगवन् !) आपके शासनमें वह वस्तुतत्त्व कथञ्चित् (किसी प्रकारसे) सत्-रूप ही है, कथञ्चित् असत्-रूप ही है, कथञ्चित् उभयरूप ही है, कथञ्चित् अवस्थायरूप ही है (चकारसे) कथञ्चित् सत् और अवक्तव्य, रूप ही है; कथञ्चित् असत् और अवस्थायरूप ही है, कथञ्चित् सदसत् और अवक्तव्यरूप ही है; और यह सब नयोंके योगसे है—वक्ताके अभिप्राय-विशेषको लिए हुए जो समर्थगात्मक नय-

विकल्प हैं उनकी विवक्षासे अथवा इष्ट-सदैर्हेतु—नहीं—
नयहृष्टिको छोड़कर सर्वधारूपमें अथवा सर्वप्रकारसे ऐसे रूपमें
कोई भी वस्तुतत्व व्यवस्थित नहीं होता !

सत्-असत्-मान्यतादि॒ विद्व॑ विज्ञ॒त्य ब्रजाशवित्
सदैव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि॒ चतुर्ष्ट्योत्॑ ॥ ५ ॥
असदैव विषयासान्न चर्म्म॑ व्यव॒तिष्ठते नैर्दोर्मा॒

‘(हे वीर जिन !) ऐसा कौन है जो सबको—चेतन-
अचेतनको, द्रव्य-पर्यायादिको, आन्त-अआन्तको अथवा स्वयंके
लिए इष्ट-अनिष्टको—स्वरूपादिचतुर्ष्टयकी हृष्टिसे—स्वद्रव्य,
स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षासे—सत् रूप ही, और
पररूपादिचतुर्ष्टयकी हृष्टिसे—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और
परभावकी अपेक्षासे—अथवा रूप ही अंगीकार न करे ?—कोई
भी लौकिकजन, परीक्षक, स्याद्वादी, सर्वथा एकान्तवादी अथवा
सचेतन प्राणी ऐसा नहीं है, जो प्रतीतिका लोग करनेमें समर्थ न
होनेके कारण इस बातको न मानता हो । यदि (स्वयं प्रतीत
करता हुआ भी कुनयके वश विपरीतबुद्धि अथवा दुराग्रहको
प्राप्त हुआ) कोई ऐसा नहीं मानता है तो वह (अपने किसी भी
इष्ट-तत्त्वमें) अवस्थित अथवा व्यवस्थित नहीं होता है—
उसकी कोई भी तत्त्वव्यवस्था नहीं बनती । क्योंकि स्वरूपके
ग्रहण और पररूपके त्यागकी व्यवस्थासे ही वस्तुमें वस्तुतत्वकी
व्यवस्था सुघटित होती है, अन्यथा नहीं । स्वरूपकी तरह यदि
पररूपसे भी किसीको सत् माना जाय तो चेतनादिके अचेतन-
त्वादिका प्रसंग आता है । और पररूपकी तरह यदि स्वरूपसे
भी असत् माना जाय, तो सर्वथा शून्यताकी आपत्ति खड़ी होती
है । अथवा जिस रूपसे सत् है उसी रूपसे असत्त्वको और जिस
रूपसे असत्त्व है उसी रूपसे सत्त्वको माना जाय, तो कुछ भी

घटित नहीं होता । अतः अन्यथा माननेमें तत्त्व या वस्तुकी कोई व्यवस्था बनती ही नहीं, यह भारी दोष उपस्थित होता है ।'

स्वयं जहा प्रत्यक्षालक्षी निर्णय नामप्रतामें हेतु
क्रमार्थित-द्वयाद् द्वैतं सहाऽवाच्यमशक्तितः ।
अवकृतव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥१६॥

‘वस्तुतत्त्व कथश्चित् क्रम-विवक्षित स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा द्वैत—(उभय) रूप—सदसदरूप अथवा अस्तित्व-नास्तित्वरूप—है और कथश्चित् युगपत् विवक्षित स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा कर्त्तव्यमें वक्तव्यकी अशक्ति—असमर्थताके कारण अवकृतव्यरूप है । (इन चारोंके अतिरिक्त) सत्, असत् और उभयके उत्तरमें अवकृतव्यको लिए हुए जो शेष तीन भंग—सदवकृतव्य, असदवकृतव्य और उभयावकृतव्य—हैं वे (भी) अपने-अपने हेतुसे कथश्चित् रूपमें सुधारित हैं—अर्थात् वस्तुतत्त्व यथापि स्त्ररूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षा कथश्चित् अस्तित्वरूप है तथापि युगपत् स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा कहा न जा सकनेके कारण अवकृतव्यरूप भी है और इसलिए स्यादस्त्यबक्तव्यरूप है; इसी तरह स्यान्नास्त्यवक्तव्य और स्यादस्ति-नास्ति-अवकृतव्य इन दो भंगोंको भी जानना चाहिए ।’

अस्तित्वधर्म नास्तित्वके साथ अविनाभावी
अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येक-धर्मिणि ।
विशेषणत्वात्साधम्यं यथा भेद-विवक्षया ॥१७॥

एक धर्ममें अस्तित्वधर्म नास्तित्वधर्मके साथ अविनाभावी है—नास्तित्वधर्मके बिना अस्तित्वधर्म नहीं बनता—क्योंकि वह विशेषण है—जो विशेषण होता है वह अपने प्रतिषेध्यके (प्रतिपक्ष-धर्मके) साथ अविनाभावी होता है—जैसे कि (हेतु-प्रयोगमें) साधम्य

(अन्वय-हेतु) भेद-विवरण (वैधम्यं अथवा व्यतिरेक-हेतु) के साथ अविनाभाव-सम्बन्धको लिए रहता है—व्यतिरेक (वैधम्यं) के बिना अन्वय (साधम्यं) और अन्वयके बिना व्यतिरेक घटित नहीं होता ।'

नास्तित्वधर्मं वस्तित्वके साथ अविनाभावी

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येकधर्मिणि ।

विशेषणत्वादैधर्म्यं यथाऽभेद-विवरणा ॥१८॥

(इसी तरह) एक धर्मोमें नास्तित्वधर्मं अपने प्रतिषेध्य- (अस्तित्व) धर्मके साथ अविनाभावी है—अस्तित्वधर्मके बिना वह नहीं बनता—क्योंकि वह विशेषण है—जो विशेषण होता है वह अपने प्रतिषेध्य (प्रतिपक्ष) धर्मके साथ अविनाभावी होता है—जैसे कि (हेतु-प्रयोगमें) वैधम्यं (व्यतिरेक-हेतु) अभेद-विवरण (साधम्यं या अन्वय-हेतु) के साथ अविनाभाव-सम्बन्धको लिए रहता है—अन्वय (साधम्यं) के बिना व्यतिरेक (वैधम्यं) और व्यतिरेकके बिना अन्वय घटित ही नहीं होता ।'

शब्दगोचर-विशेष्यं । विधि-निषेधात्मक

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः ।

साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चात्यपेक्षया ॥१९॥

'जो विशेष्य (धर्मी या पक्ष) होता है वह विधेय तथा प्रतिषेध्य-स्वरूप होता है—विधिरूप अस्तित्वधर्म और निषेधरूप नास्तित्वधर्म दोनोंको अपना विषय किये रहता है; क्योंकि वह शब्दका विषय होता है—जो-जो शब्दका विषय होता है वह सब विशेष्य विधेय-प्रतिषेध्यात्मक हुआ करता है। जैसे कि साध्यका जो धर्म एक विवरणसे हेतु (साधन) रूप होता है वह दूसरो विवरणसे अहेतु (असाधन) रूप भी होता है। उदाहरणके लिए साध्य

जब अग्निमान् है तो धूम उसका साधन—अनुमान-द्वारा उसे सिद्ध करनेमें समर्थ—होता है और साध्य जब जलमान् है तो धूम उसका असाधन—अनुमान-द्वारा उसे सिद्ध करनेमें असमर्थ—होता है। इस तरह धूममें जिस प्रकार हेतुत्व और अहेतुत्व दोनों धर्म हैं उसी प्रकार जो कोई भी शब्दगोचर विशेष्य है वह सब अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंको साथमें लिए हुए होता है।'

शेष भंग भी नय-योगसे अविरोधहृषि

शेषभंगाश्च नेतव्या यथोक्तत-नय-योगतः ।

न च कश्चिद्विरोधोऽस्मि मुनीन्द्र ! तव शासने ॥२०॥

‘शेष भंग जो अवकृतव्य, अस्त्यवृत्तव्य, नास्त्यवृत्तव्य और अस्ति-नास्त्यवृत्तव्य हैं वे भी अपेक्षक नदेशे द्योगसे नेतृत्व हैं—पहले तोन भंगोंको जिस प्रकार ‘विशेषणत्वात् हेतुसे अपने प्रतिपक्षीके साथ अविनाभावसम्बन्धको लिए हुए उदाहरण-सहित बतलाया गया है उसी प्रकार ये शेष भंग भी जानने अथवा घोजना किये जानेके योग्य हैं। (इन भंगोंकी व्यवस्था) है मुनीन्द्र—जीवादि तत्त्वोंके याथात्म्यका मनन करनेवाले मुनियोंके स्वामी वीरजिनेन्द्र !—आपके शासन (मत) में कोई भी विरोध घटित नहीं होता है—व्योंगि वस्तु अनेकान्तात्मक है।’

वस्तुका अर्थक्रियाकारित्व कब बनता है—

एवं विधि-निषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत् ।

नेति चेन्न यथा कायं बहिरन्तरुपाधिभिः ॥२१॥

‘इस प्रकार विधि-निषेध-द्वारा जो वस्तु अवस्थित (अवधारित) नहीं है—सर्वथा अस्तित्वरूप या सर्वथा नास्तित्वरूपसे निर्धारित

एवं परिणृहीत नहीं है—वह अर्थ-क्रियाको करनेवाली होती है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो आहु और अभ्यरंग कारणोंसे कार्यका निष्पत्ति होना जो माना गया है वह नहीं अनला—सर्वथा सत्-रूप या सर्वथा असत्-रूप वस्तु अर्थ-क्रिया करनेमें असमर्थ है, चाहे कितने भी कारण क्यों न मिलें, और अर्थ-क्रियाके अभावमें वस्तुतः वस्तुत्व बनता ही नहीं ।'

धर्म-धर्मेन अर्थभिन्नता और धर्मोंकी मुख्य-रौणका

धर्मे धर्मज्ञ्य एवाथो धर्मिणोऽनन्त-धर्मिणः ।

अङ्गिस्त्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तद(दा)ङ्गता ॥२२॥

'अनन्तधर्मा धर्मोंके धर्म-धर्में अन्य ही अर्थ संतिहित है—धर्मोंका प्रत्येक धर्म एक जुड़े ही गोजनको हिए हुए है। उस धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मके अङ्गी (प्रधान) होनेपर देख धर्मोंकी उसके अथवा उस समय अङ्गता (अप्रधानता) हो जाती है—परिशेष सब धर्म उसके अङ्ग अथवा उस समय अप्रधान रूपसे विवक्षित होते हैं ।

उक्त भैगवती प्रक्रियाको एकाज्ञेकादिविकल्पोंमें भी योजना

एकाऽनेक-विकल्पादावुत्तरश्राऽषि योजयेत् ।

प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नर्यनर्य-विशारदः ॥२३॥

'जो नर्य-निपुण है वह (विधि-निषेधमें प्रयुक्त) इस भैगवती (सप्तभङ्गवती) प्रक्रियाको लागे भी एक-अनेक जैसे विकल्पाविकल्प नयोंके साथ योजित करे—जैसे सम्पूर्ण वस्तुतस्त्व कथंचित् एकरूप है, कथंचित् अनेकरूप है, कथंचित् एकाज्ञेकरूप है, कथंचित् अबक्तव्यरूप है, कथंचित् एकावक्तव्यरूप है, कथंचिदनेकावक्तव्य-रूप है और कथंचिदेकाऽनेकाऽवक्तव्यरूप है। एकत्वका अनेकत्वके साथ और अनेकत्वका एकत्वके साथ अविनाभावसम्बन्ध है, और

दूसलिये एकत्वके बिना अनेकत्व और अनेकत्वके बिना एकत्व नहीं बनता; न वस्तुतत्त्व सर्वथा एकरूपमें या सर्वथा अनेकरूपमें व्यवस्थित ही होता है, दोनोंमें वह अनदिस्थित है और तब ही अर्थ-क्रियाका कर्ता है; एकत्वादि किसी एकधर्मके प्रधान होनेपर दूसरा धर्म अप्रधान हो जाता है।'

[इसके आगे अद्वैतादि एकान्तपक्षोंको लेकर, उनमें दोष दिखलाते हुए, वस्तु-व्यवस्थाके अनुकूल चिष्ठयका स्पष्टीकरण किया जायगा ।]

इति देव्यागमान्तमीमसायां प्रधमः परिच्छेदः ।

द्वितीयपरिच्छेद

अद्वैत-एकान्तकी सदोषता

अद्वैतैकान्त-पक्षेऽपि दुष्टो भेदो विरुद्ध्यते ।

कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥२४॥

'यदि अद्वैत एकान्तका पक्ष लिया जाय—यह माना जाय कि वस्तुतत्त्व सर्वथा दुई (द्वितीयता) से रहित एक ही रूप है—तो कारकों और क्रियाओंका जो भेद (नानापन) प्रत्यक्ष-प्रमाणसे जाता जाता अच्युता स्पष्ट दिखाई देनेवाला लोकप्रसिद्ध (सत्य) है वह विशेषको प्राप्त होता (मिथ्या ठहरता) है—कर्ता, कर्म, करणादि—रूपसे जो सात कारक अपने असंख्य तथा अनन्त भेदोंको लिये हुए हैं उनका कह भेद-प्रभेद नहीं बनता और न क्रियाओंका चलना-ठहरना, उपजना-विनशना, पचाना-जलना, सकोडना-पसारना, खाना-पीना और देखना-आनना आदि

रूप कोई विकल्प ही बनता है; फलतः सारा लोक-व्यवहार विगड़ जाता है। (यदि वह कहा जाय कि जो एक है वही विभिन्न कारकों तथा क्रियाओंके रूपमें परिणत होता है तो वह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) जो कोई एक है—सर्वथा अकेला एवं असहाय है—वह अपनेसे ही उत्पन्न नहीं होता।—उसका उस रूपमें जनक और जन्मका कारणादिक दूसरा ही होता है, दूसरेके अस्तित्व एवं निमित्तके बिना वह स्वयं विभिन्न कारकों तथा क्रियाओंके रूपमें परिणत नहीं हो सकता।

कर्म-फलादिका कोई भी द्वैत नहीं बनता

कर्म-द्वैतं फल-द्वैतं लोक-द्वैतं च नो भवेत् ।

विद्याऽविद्या-द्वयं न स्याद्बन्ध-मोक्ष-द्वयं तथा ॥२५॥

‘(सर्वथा अद्वैत सिद्धान्तके माननेपर) कर्म-द्वैत—शुभ-अशुभ कर्मका जोड़ा, फल-द्वैत—पूण्य-मापरूप अच्छे-बुरे फलका जोड़ा और लोक-द्वैत—फल भोगनेके स्थानरूप इहलोक परलोकका जोड़ा— नहीं बनता। (इसी तरह) विद्या-अविद्याका द्वैत (जोड़ा) तथा बन्ध-मोक्षका द्वैत (जोड़ा) भी नहीं बनता। इन द्वैतों (जोड़ों) में से किसी भी द्वैतके माननेपर सर्वथा अद्वैत का एकान्त वाधित होता है। और यदि प्रत्येक जोड़की किसी एक वस्तुका लोपकर दूसरा वस्तुका ही ग्रहण किया जाय तो उस दूसरी वस्तुके भी लोपका प्रसंग आता है; क्योंकि एकके बिना दूसरीका अस्तित्व नहीं बनता, और इस तरह भी सारे व्यवहारका लोप ठहरता है।’

हेतु आदिसे अद्वैत-सिद्धिमें हृषापसि

हेतोरद्वैत-सिद्धिइचेद्वैतं स्याद्देतु-साध्ययोः ।

हेतुना चेद्विना सिद्धिद्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

'(इसके सिवाय यह प्रश्न पैदा होता है कि अद्वैतकी सिद्धि किसी हेतुसे की जाती है या बिना किसी हेतुके बचनमात्रसे ही ?—उत्तरमें) यदि यह कहा जाय कि अद्वैतकी सिद्धि हेतुसे की जाती है तो हेतु (साध्यन) और साध्य दोको मान्यता होनेसे द्वैतापत्ति लड़ी होती है—सर्वथा अद्वैतका एकान्त नहीं रहता—और यदि बिना किसी हेतुके ही सिद्धि कही जाती है तो क्या बचनमात्रसे द्वैतापत्ति नहीं होती ?—साध्य अद्वैत और बचन, जिसके द्वारा साध्यकी सिद्धिको घोषित किया जाता है, दोनोंके अस्तित्वसे अद्वैतता नहीं रहती । और यह बात तो बनती ही नहीं कि जिसका स्वर्ण अस्तित्व न हो उसके द्वारा किसी दूसरेके अस्तित्वको सिद्ध किया जाय अथवा उसकी सिद्धिकी घोषणा की जाय । अतः अद्वैत एकान्तकी किसी तरह भी सिद्धि नहीं बनती, वह कल्पना-मात्र ही रह जाता है ।'

द्वैतके बिना अद्वैत नहीं होता।

अद्वैतं न बिना द्वैतादहेतुरिव हेतुना ।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते बनचित् ॥२७॥

'(एक बात और भी बतला देनेकी है और वह यह कि) हृतके बिना अद्वैत उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कि हेतुके बिना अहेतु नहीं होता; क्योंकि कहीं भी संज्ञोका—जामवालेका—प्रतिषेध प्रतिषेध्यके बिना—जिसका निषेध किया जाय उसके अस्तित्व-बिना—नहीं बनता—द्वैत शब्द एक संज्ञी है और इसलिये उसके निषेधरूप जो अद्वैत शब्द है वह द्वैतके अस्तित्वकी मान्यता-बिना नहीं बनता ।)'

[इस प्रकार अद्वैत एकान्तका पक्ष लेनेवाले ब्रह्माद्वैत, संवेदनाद्वैत और शब्दाद्वैत जैसे भल्ल सदोष एवं बाषित ठहरते हैं ।]

पृथक्त्वैकान्तको सदोषता

पृथक्त्वैकान्त-पक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक्तु तौ ।

पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादेकस्थो श्वसौ गुणः ॥२८॥

'(अहैत एकान्तमें दोष देखकर) यदि पृथक्त्वनका एकान्त-पक्ष लिया जाय—यह माना जाय कि वस्तुतत्त्व एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न है—तो इसमें भी दोष आता है और यह प्रवृत्त ऐवा होता है कि पृथक्त्व-गुणसे द्रव्य और गुण पृथक् हैं या अपृथक् ? यदि अपृथक् हैं तब तो पृथक्त्वका एकान्त ही न रहा—वह बाधित हो गया । और यदि पृथक् हैं तो पृथक्त्व नामका कोई गुण ही नहीं बनता (जिसे वैशेषिकोंने गुणोंकी २४ संख्यामें अलगसे गिनाया है) क्योंकि वह एक होते हुए भी अनेकोंमें स्थित माना गया है और इसकी कोई पृथक्गति नहीं है—पृथक् रूपमें उसकी स्थिति न तो हृष्ट है और न स्वीकृत है, अतः पृथक् कहने-पर उसका अभाव ही कहना होगा ।

[यह कारिका वैशेषिकों तथा नेयाधिकोंके पृथक्त्वैकान्त पक्षको लक्ष्य करके कही गयी है, जो क्रमशः ६ तथा १६ पदार्थ मानते हैं और उन्हें सर्वथा एक दूसरेसे पृथक् बतलाते हैं । अगली कारिकामें ऋणिकैकान्तवादी बौद्धोंके पृथक्त्वैकान्तपक्षको सदोष बतलाया जाता है ।]

एकत्वके लोपमें सन्तानादिक नहीं बनते

संतानः समुदायश्च साधर्म्यश्च निरंकुशः ।

प्रेत्य-भावश्च तत् सर्वे न स्यादेकत्व-निहृष्ये ॥२९॥

'यदि-एकत्वका सर्वथा लोप किया जाय—सामान्य, सादृश्य, तादात्म्य अथवा सभी पर्यायोंमें रहनेवाले द्रव्यत्वको न माना जाय—तो जो संतान, समुदाय और साधर्म्य तथा प्रेत्यभाव (मरकर परलोकगमन) निरंकुश है—निर्बासि रूपसे माना

जाता है—वह सब नहीं बनता—अर्थात् क्रमभावी पर्यायोंमें जो उत्तरोत्तर परिणाम-प्रवाहरूप अन्वय है वह घटिस नहीं होता, रूप-रसादि जैसे सहभावी धर्मोंमें जो युगपत् उत्पाद-व्ययको लिये हुए एकत्र अवस्थानरूप समुदाय है वह भी नहीं बनता, सहधर्मियोंमें समान परिणामकी जो एकता है वह भी नहीं बनती और न प्रकट, परलोदनों जाता अशास्त्र एक द्वी जीवका दूसरा भव या शरीर धारण करना ही बनता है। इसी तरह बाल-युवा-वृद्धादि अवस्थाओंमें एक ही जीवका रहना नहीं बनता और (चकारसे) प्रत्यभिज्ञान-जैसे साहश्य तथा एकत्वके जोड़रूप ज्ञान तो नहीं बनते !

ज्ञानको ज्ञेयसे सर्वथा निन्न माननेमें दोष

सदात्मना च भिन्नं चेज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधात्यसत् ।

ज्ञानाऽभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तरच ते द्विषाम ॥३०॥

(इसी तरह) ज्ञानको (जो कि अपने चेतन्यरूपसे ज्ञेय-प्रमेयसे पृथक् है) यदि सत्त्वरूपसे भी ज्ञेयसे पृथक् माना जाय—अस्तित्वहीन स्वीकार किया जाय—तो ज्ञान और ज्ञेय दोनोंका ही अभाव ठहरता है—ज्ञानका अभाव तो उसके अस्तित्व-विहीन होनेसे ही गया और ज्ञेयका अभाव ज्ञानाभावके कारण बन गया; क्योंकि ज्ञानका जो विषय हो उसे ही ज्ञेय कहते हैं—ज्ञानके अभाव-में बाह्य तथा अंतरंग किसी भी ज्ञेयका अस्तित्व (हे वीर जिन !) आपसे द्वेष रखनेवालोंके यहाँ—सर्वथा पृथक्त्वकान्तवादी विशेषिकादिकोंके मतमें—कैसे बन सकता है ?—उनके मतसे उनकी कोई भी समीचीन व्यवस्था नहीं बन सकती ।

वचनोंको सामान्यार्थक माननेमें दोष

सामान्याऽर्था गिरोऽन्येषां विशेषो नाऽभिलङ्घ्यते ।

सामान्याऽभावतस्तेषां मृषेषु सकला गिरः ॥३१॥

'दूसरोंके यही—बोझोंके मतमें—वचन सामान्यार्थक हैं;
योंकि उनके हारा '(उनकी मान्यसानुसार) विशेषका—
याथात्म्यरूप स्वलक्षणका—कथन नहीं बनता है। (वचनोंके
मात्र सामान्यार्थक होनेसे वे कोई वस्तु नहीं रहते—बोझोंके यही
उन्हें वस्तु माना भी नहीं गया—और विशेषके अभावमें सामान्यका
भी कहीं कोई अस्तित्व नहीं बनता, ऐसी हालतमें सामान्यके भी
अभावका प्रसंग उपस्थित होता है) सामान्यका अवस्तुरूप अभाव
होनेसे उन (दोषों) के हायुर्य वराद निष्ठ ही ठहरते हैं—वे
वचन भी सत्य नहीं रहते जिन्हें वे सत्यरूपसे प्रतिपादन करते हैं ।'

उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्तोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्याय-विद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिनाभिवाच्यमिति युज्यते ॥३२॥

'(अद्वैत और पृथक्त्व दोनों एकान्तोंकी अलग-अलग मान्यता-
में दोष देखकर) यदि अद्वैत (एकत्व) और पृथक्त्व दोनोंका
एकात्म्य (एकान्त) माना जाय तो स्याद्वादन्यायके विद्वेषियोंके
यही—उन लोगोंके मतमें जो अद्वैत पृथक्त्वादि सप्रतिपक्ष धर्मोंमें
पारस्परिक अपेक्षाको न मानकर उन्हें स्वतंत्र धर्मोंके रूपमें
स्वीकार करते हैं और इस तरह स्याद्वादन्यायके शत्रु बने हुए
हैं—वह एकात्म्य नहीं बनता (उसी प्रकार जिस प्रकार कि
अस्तित्व-नास्तित्वका एकात्म्य नहीं बनता); योंकि उससे
(वन्ध्या-पुत्रकी तरह) विरोध दोष आता है—अद्वैतेकांत
पृथक्त्वैकांतका और पृथक्त्वैकांत अद्वैतेकांतका सर्वथा विरोधी
होनेसे दोनोंमें एकात्मता घटित नहीं हो सकती ।'

'(अद्वैत, पृथक्त्व और उभय तीनों एकान्तोंकी मान्यतामें
दोष देखकर) यदि अवाच्यता (अवक्तव्यता) एकान्तको माना
जाय—यह कहा जाय कि वस्तुतत्त्व एकत्व या पृथक्त्वके रूपमें
सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय या अवक्तव्य) है—तो वस्तुतत्त्व

'अवाच्य है' ऐसा कहना भी नहीं बनता—इस कहनेसे ही वह 'वाच्य' हो जाता है, अवाच्य नहीं रहता; क्योंकि सर्वथा 'अवाच्य' की मान्यतामें कोई बचन-व्यवहार घटित ही नहीं हो सकता।'

पृथक्त्व-एकत्व एकान्तोंका अवस्थात्व-वस्तुत्व
अनपेक्षे पृथक्त्वेक्षे शब्दस्तु द्रव्य-हेतुतः ।
तदेवेक्ष्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥३३॥

'एक वूसरेकी अपेक्षा न रखनेवाले पृथक्त्व और एकत्व जूँकि हेतुद्रव्यसे अवस्था है—एकत्व-निरपेक्ष होनेसे पृथक्त्वका और पृथक्त्व-निरपेक्ष होनेसे एकत्वका कहीं कोई अस्तित्व नहीं बनता—अतः एकत्व और पृथक्त्व शापेक्षरूपमें विवादको प्राप्त न होनेसे उसी प्रकार वस्तुत्वको प्राप्त है जिस प्रकार कि साधन (हेतु)—साधन अपने पक्षधर्मत्व, समाधारमें सत्त्व और विपक्षसे व्यावृत्तिरूप भेदों तथा अन्वय-व्यतिरेकरूप भेदोंके साथ शापेक्षताके कारण विरोधको न रखते हुए वस्तुत्वको प्राप्त है।'

एकत्व-पृथक्त्व एकान्तोंकी निर्विषयव्यवस्था
सत्त्वामान्यात् सर्वेक्ष्यं पृथग्द्रव्यादि-मेदतः ।
मेदाऽमेद-दिवक्षायामसाधारण-हेतुवत् ॥३४॥

'(यदि यह कहा जाय कि एकत्वके प्रत्यक्ष-बाधित होनेके कारण और पृथक्त्वके सदाचात्मकतामें बाधित होनेके कारण प्रतीतिका निर्विषयपना है तब सब पदार्थोंमें एकत्व और पृथक्त्वको कैसे अनुभूत किया जा सकता है ? तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) सत्त्व-अस्तित्वमें-समान्तता होनेकी वृष्टिसे तो सब (जीवादि पदार्थ) एक हैं—इसलिये एकत्वकी प्रतीतिका विषय सत्त्वामान्य होनेसे वह निर्विषय नहीं है—और द्रव्यादिके भेदकी वृष्टिसे—द्रव्य, गुण और कर्मकी अवधा द्रव्य, सेत्र, काल और

भावकी जुदी-जुदी अपेक्षाको लेकर—सब (जीवादि पदार्थ) पृथक् हैं—इसलिये पृथक्त्वकी प्रतीतिका विषय द्रव्यादि-भेद होनेसे वह निविषय नहीं है। जिस प्रकार असाधारण हेतु अभेदकी वृष्टिसे एकरूप और भेदकी वृष्टिसे अनेकरूप है उसी प्रकार सब पदार्थोंमें भेदकी विवक्षासे पृथक्त्व और अभेदकी विवक्षासे एकत्व सुघटित है।

विवक्षा तथा अविवक्षा सतकी ही होती है

विवक्षा चाऽविवक्षा च विशेष्येऽनन्त-धर्मिणि ।

सतो विशेषणस्याऽश्रु नाऽसतस्तैस्तदर्थिमिः ॥३५॥

‘(यदि यह कहा जाय कि विवक्षा और अविवक्षाका विषय तो असतरूप है तब उनके आधारपर तत्त्वकी व्यवस्था कैसे युक्त हो सकती है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) अनन्तधर्मा विशेष्यमें विवक्षा तथा अविवक्षा जो को जाती है वह सत विशेषणकी ही को जाती है असतकी नहीं और यह उनके द्वारा को जाती है जो उस विशेषणके अर्थी या अनर्थी हैं—अर्थी विवक्षा करता है और अनर्थी अविवक्षा । जो सर्वथा असत है उसके विषयमें किसीका अर्थीपना या अनर्थीपना बनता ही नहीं—वह तो सकल-अर्थक्रियासे शून्य होनेके कारण गधेके सींगके समान अवस्तु होता है।’

एक वस्तुमें भेद और अभेदकी अविरोध-विधि

प्रमाण-गोचरी सन्तौ भेदाऽभेदौ न संदृती ।

तावेकत्राऽविरुद्धौ ते गुण-मुख्य-विवक्षया ॥३६॥

‘(हे बीर जिन !) भेद (पृथक्त्व) और अभेद (एकत्व-अद्वैत) दोनों (अर्थ) सतरूप हैं—परमार्थभूत हैं—संवृतिके विषय नहीं—कल्पनारोपित अथवा उपचारमात्र नहीं हैं; क्योंकि धोनों प्रमाणके विषय हैं—(इसीसे) आपके महसूसें वे दोनों एक वस्तुमें

गौण और मुख्यकी विवराहो लिये हुए एकमात्र अविरोधरूपसे रहते हैं—फलतः जिनके मतमें भेद और अभेदको परस्पर निरपेक्ष माना है उनके यहीं वे विरोधको प्राप्त होते हैं और बनते ही नहीं।'

(ऐसी स्थितिमें (१) सर्वथा भेदवादी बौद्ध, जो पदार्थों के अभेदको ही परमार्थ सत्तके रूपमें स्वीकार करते हैं—अभेदको नहीं; अभेदको संवृति (कल्पनारोपित) सत् बतलाते हैं और अन्यथा विरोधकी कल्पना करते हैं; (२) सर्वथा अभेदवादी ब्रह्माद्वैती आदि, जो पदार्थों के अभेदको ही लास्त्रिक मानते हैं—भेदको नहीं; भेदको कल्पनारोपित बतलाते हैं और अन्यथा दोनोंमें परस्पर विरोधकी कल्पना करते हैं; (३) सर्वथा शून्यवादी बौद्ध, जो भेद और अभेद दोनोंमें से किसीको भी परमार्थ सत्तके रूपमें स्वीकार नहीं करते किन्तु उन्हें संवृति—कल्पनाका विषय बतलाते हैं; और (४) उभयवादी नैयायिक, जो भेद और अभेद दोनोंको सत्-रूपमें मानते तो हैं, परन्तु दोनोंको परस्पर निरपेक्ष बतलाते हैं; वे चारों ही यथार्थ वस्तु-तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले सत्यवादी नहीं हैं। इन सबकी हास्तिसे इस कारिकाके अर्थका 'स्पष्टीकरण' निम्न प्रकार है:—

'अभेद सत् स्वरूप ही है—संवृति (कल्पना) के विषयरूप नहीं; क्योंकि वह भेदकी तरह प्रमाण-गोचर है। भेद सत्-रूप ही है—संवृति-रूप नहीं, प्रमाण-गोचर होनेसे, अभेदकी तरह। भेद और अभेद दोनों सत् रूप हैं—संवृति-के विषयरूप नहीं, प्रमाण-गोचर होनेसे, अपने इष्ट तत्त्वको तरह; और इस प्रकार एक अन्य पक्ष भी संग्रहीत होता है; क्योंकि उन् दोनोंको संवृति-रूप बतलानेवालों एवं वस्तुको समस्त घर्मसे शून्य माननेवालों (शून्यवादियों)

१. यह स्पष्टीकरण श्रीविद्यानन्दाचार्यने अपनी अष्टसहस्री-टीकामें "इसि कारिकायामर्थसंग्रहः" इस वाक्यके साथ दिया है।

का भी सद्भाव पाया जाता है। (यहाँ इन पक्षोंके अनुमानोंमें जो-जो उदाहरण हैं साध्य-साधन-धर्मसे विकल (रहित) नहीं हैं; क्योंकि भेद, अभेद, उभय और अनुभय एकान्तोंके माननेवालोंमें उसकी प्रसिद्धि स्पादादियोंकी सरह पाई जाती है।) इस तरह है बीर भगवन् ! आपके यहीं एक वस्तुमें भेद और अभेद दोनों धर्म परमार्थसत्‌के रूपमें विरुद्ध नहीं हैं, मुख्य-गौणकी विवेकाके कारण प्रमाण-गोचर होनेसे, अपने इष्टतत्त्वकी सरह। और इसलिये सामर्थ्यसे यह अनुमान भी फलित होता है कि जो भेद और अभेद परस्पर निरपेक्ष हैं वे विरुद्ध ही हैं, प्रमाण-गोचर न होनेसे, भेदेकान्ता-दिकी तरह।'

इति देवागमाप्तमीमांसायां त्रितीयः परिच्छेदः ।

तृतीय परिच्छेद

नित्यत्व-एकान्तकी सदीषता

नित्यत्वैकान्त-पक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्धते ।

प्रागेव कारकाऽभावः क्व ग्रमाणं क्व तत्पलम् ॥ ३७ ॥

'यदि नित्यत्व एकान्तका पक्ष लिया जाय—यह माना जाय कि पदार्थ सर्वथा नित्य है, सदा अपने एक ही रूपमें स्थिर रहता है—तो विक्रियाकी उपरति नहीं हो सकती—अवस्थासे अवस्था-न्तररूप गणितम्, हूलन-चलनरूप परिस्पन्द अथवा विकारात्मक कोई भी क्रिया पदार्थमें नहीं बन सकती; कारकोंका—कर्त्ता, कर्म, क्रणादिका—अभाव पहले ही (कार्योत्पत्तिके पूर्व ही) होता है—जहाँ कोई अवस्था न बदले वही उनका सद्भाव बनता ही नहीं—

और जब कारकोंका अभाव है तब (प्रमाताका भी अभाव होनेसे) प्रमाण और प्रमाणका कल जो प्रमिति (सम्बन्धपति—यथार्थ जानकारी) है, ये दोनों कहीं बन सकते हैं ?—नहीं बन सकते । इनके तथा प्रमाताके अभावमें 'नित्यत्व एकान्तका पक्ष लेनेवाले सांख्योंके यहाँ जीवतस्वकी सिद्धि नहीं बनती और न दूसरे ही किसी तत्त्वकी व्यवस्था ठीक बैठती है ।'

प्रमाण और कारकोंके नित्य होनेपर विक्रिया कैसी ?

प्रमाण-कारकैर्यकृतं व्यवतं चेदिन्द्रियाऽर्थवत् ।

ते च नित्ये विकार्ये किं साधोस्ते शासनाद्वाहिः ॥३८॥

'(यदि सांख्यमत-बादियोंकी ओरसे यह कहा जाय कि कारण-हृषि जो अव्यक्त पदार्थ है वह सर्वथा नित्य है, कार्यरूप जो व्यक्त पदार्थ है वह नित्य नहीं, उसे तो हम अद्वा मानते हैं और इसलिए हमारे यहीं विक्रिया बनती है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं हैः क्रयोंकि) इन्द्रियोंके-द्वारा उनके विषयकी अभिव्यक्तिक समान जिन प्रमाणों तथा कारकोंके द्वारा अध्यक्षको व्यक्त हुआ बतलाया जाता है वे प्रमाण और कारक दोनों ही जब सर्वथा नित्य माने गये हैं तब उनके द्वारा विक्रियां बनती कौन-सी हैं ?—सर्वेषां नित्यके द्वारा कोई भी विकाररूप क्रिया नहीं बन सकती और न कोई अनित्य कार्य ही घटित हो सकता है । हे साधो !—वीर भगवन् !—आपके शासनके बाह्य—आपके द्वारा अभिमत अनेकान्तवादकी सीमाके बाहर—जो नित्यत्वका सर्वथा एकान्तवाव है उसमें विक्रियाके लिये कोई स्थान नहीं है—सर्वथा नित्य कारणोंसे अनित्य कार्योंकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति बन ही नहीं सकती और इसलिये उक्त कल्पना अममूलक है ।'

कार्यके सर्वथा सत् होनेपर उत्पत्ति आदि नहीं बनती

यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति ।

परिणाम-प्रबलतृप्तिरूप नित्यत्वकान्त-बाधनी ॥३९॥

(यदि सांख्योंकी ओरसे यह कहा जाय कि हम तो कार्य-कारण-भावको मानते हैं—महदादि कार्य हैं और प्रधान उनका कारण है—इसलिए हमारे यहाँ विक्रियाके बननेमें कोई बाधा नहीं आती, तो यह कहना अनालोचित सिद्धान्तके रूपमें अविचारित है; क्योंकि कार्यकी सत् और असत् इन दो विकल्पोंके अतिरिक्त तीसरी कोई गति नहीं ।) फल्यंश्वेतवि लक्ष्मीस्तु माना जाय तो वह चैतन्य पुरुषकी तरह उत्पत्तिके योग्य नहीं ठहरता—कूटस्थ होनेसे उसमें उत्पत्ति जैसी कोई बात नहीं बनती, जिस प्रकार कि पुरुषमें नहीं बनती । दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि जो सर्वथा सत् है उसके चैतन्यकी तरह कार्यत्व नहीं बनता, चैतन्य कार्य नहीं है, अन्यथा चैतन्यरूप जो पुरुष माना गया है उसके भी कार्यत्वका प्रसंग आएगा । अतः जिस प्रकार सर्वथा सतरूप होनेसे चैतन्य कार्य नहीं है उसी प्रकार महदादिकके भी कार्यत्व नहीं बनता । जब नई कार्योत्पत्ति ही नहीं सब विक्रिया कैसी ? और कार्यको यदि सर्वथा असत् माना जाय तो उससे सिद्धान्त-विरोध घटित होता है; क्योंकि कार्य-कारणभावकी कल्पना करनेवाले सांख्योंके यहाँ कार्यको सतरूपमें ही माना है—गगन-कुमुमके समान असतरूपमें नहीं ।

'(यदि यह कहा जाय कि वस्तुमें अवस्थासे बदलन्तर होने रूप जो विवर्त है—परिणाम है—वही कार्य है तो इससे वस्तु परिणामी ठहरी) और वस्तुमें परिणामकी कल्पना ही निष्ठयत्वके एकान्तको बाधा पहुँचानेवाली है—सर्वथा निष्ठयत्वके एकान्तमें कोई प्रकारका परिणाम, परिवर्तन अथवा अवस्थान्तर बनता ही नहीं ।'

१. 'असदकरणादुपादानयहणात्सर्वसंभवाभावात् । याक्षस्य (कार्यस्य) अव्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्' ॥ इति हि साम्याना सिद्धाभ्यः ॥

नित्यत्वेकान्तमें पुण्य-पापादि नहीं बनते

पुण्य-पाप-क्रिया त्वं स्वात्मेत्यग्रावः फलं कुतः ।

बन्ध-मोक्षी च तेषां न येषां त्वं नाडसि नायकः ॥४०॥

‘(ऐसी स्थितिमें हे वीरजिन !) जिनके आप (अनेकान्तवादी) नायक (स्वामी) नहीं हैं उन सर्वथा नित्यत्वेकान्तवादियोंके यहाँ (मतमें) पुण्य-पापको क्रिया—मन-बचत-कायकी शुभ या अशुभ प्रवृत्तिरूप अथवा उत्पादव्ययरूप कोई क्रिया—नहीं बनती, (क्रिया-के अभावमें) परलोक-गमन भी नहीं बनता, (सुख-दुःखरूप) फल-प्राप्तिकी तो बात ही कहाँसे हो सकती है ?—वह भी नहीं बन सकती—और त बन्ध तथा मोक्ष ही बन सकते हैं।—तब सर्वथा नित्यत्वके एकान्तपक्षमें कौन परीक्षावाद किसलिए आदरवान् हो सकता है ? उसमें सादर-प्रवृत्तिके लिये किसी भी परीक्षकके बास्ते कोई भी आकर्षण अथवा कारण नहीं है ।’

क्षणिक-एकान्तकी सदोषता

क्षणिकैकान्त-पक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यगम्भवः ।

प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्तं क्षायीरम्भः कुतः फलम् ॥४१॥

‘(नित्यत्वेकान्तमें दोष देख कर) यवि क्षणिक एकान्तका पक्ष लिया जाय—बौद्धोंके सर्वथा अनित्यत्वरूप एकान्तवादका अध्यय लेकर यह कहा जाय कि सर्व पदार्थ क्षण-क्षणमें निगम्भय-विनाशको प्राप्त होते रहते हैं, कोई भी उनमें स्थिर नहीं है—तो भी प्रेत्यभावादिक असंभव ठहरते हैं—परलोकगमन और बन्ध तथा मोक्षादिक नहीं बन सकते। (इसके सिवाय प्रत्यभिज्ञान, स्मरण और अनुमानादि जैसे ज्ञान भी नहीं बन सकते) प्रत्यभिज्ञानादि जैसे ज्ञानोंका अभाव होनेसे कायंका आरम्भ नहीं बनता और जब कायंका आरम्भ ही नहीं तब उसका (सुख-दुःखादिरूप अथवा पुण्य-पापादिरूप) फल तो कहाँसे हो सकता

है ?—नहीं हो सकता । अतः सर्वथा क्षणिकैकान्त भी परीक्षावानों के लिये आदरणीय नहीं है ।'

कार्यके स्वर्णिधः असत् द्रुलेप्तर दोषापत्ति

यद्यस्तसर्वथा कार्यं तन्माजनि ख-पुष्टवत् ।

मोपादान-नियामोऽभून्माऽऽश्वासः कार्य-जन्मनि ॥४२॥

‘(क्षणिकैकान्तमें कार्यका सत्-रूपसे उत्पाद सो बनता ही नहीं; क्योंकि उससे सिद्धान्त-विरोध घटित होता है—क्षणिक एकान्तमें किसी भी वस्तुको सर्वथा सत्-रूप नहीं माना गया है । तब कार्यको असत् ही कहना होगा ।) यदि कार्यको सर्वथा असत् कहा जाय तो वह आकाशके पुष्प-समान न होने रूप ही है । यदि असत्का भी उत्पाद माना जाय तो किर उपादान कारणका कोई नियम नहीं रहता और न कार्यकी उत्पत्तिका कोई विश्वास ही बना रहता है—गेहूँ बोकर उपादान का रणके नियमानुसार हम यह आशा नहीं रख सकते कि उससे गेहूँ ही पैदा होंगे, असदुत्पाद-के कारण उससे चने, जो या मटरादिक भी पैदा हो सकते हैं और इसलिए हम किसी भी उत्पादन-कार्यके विषयमें निश्चित नहीं रह सकते; सारा ही लोक-व्यवहार बिगड़ जाता है और यह सब प्रत्यक्षादिकके विरुद्ध है ।’

क्षणिकैकान्तमें हेतुफल-भावादि नहीं बनते

न हेतु-फल-भावादिरन्यभावादनन्वयात् ।

सन्तानान्तरवन्नैकः सन्तानस्तद्वतः पृथक् ॥४३॥

‘(इसके सिवाय) क्षणिकैकान्तमें पूर्वोत्तरक्षणोंके हेतुभाव और फलभाव आदि कभी नहीं बनते; क्योंकि सर्वथा अन्यथके न होनेके कारण उन पूर्वोत्तर क्षणोंमें सन्तानान्तरकी तरह सर्वथा अन्यथाक होता है । (यदि यह कहा जाय कि पूर्वोत्तर-क्षणोंका सन्तान एक है तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि जो एकसन्तान होता

है वह सन्तानीसे पृथक नहीं होता—सर्वथा पृथक्-रूपमें उसका
अस्तित्व बनता ही नहीं ।

संबृति और मुख्यार्थकी स्थिति

अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संबृतिर्न मृषा कथम् ।

मुख्यार्थः संबृतिर्न स्याद् विना मुख्यान्तं सञ्चृतिः ॥४४॥

‘यदि (बीढ़ोंकी ओरसे) यह कहा जाय कि अन्योंमें अनन्य
शब्दका यह जो अवहार है—सर्वथा भिन्न चित्त-क्षणोंको जो
सन्तानके रूपमें अनन्य, अभिन्न अथवा एक आत्मा कहा जाता
है—वह संबृति है—काल्पनिक अथवा औपचारिक है, वास्तविक
नहीं—तो सर्वथा संबृतिरूप होनेसे वह मिथ्या वयों नहीं है ?
अवश्य ही मिथ्या है, और इसलिये उसके आधारपर सन्तान
आत्मा जैसी कोई वस्तु व्यवस्थित नहीं बनती । यदि संतानकी
मुख्य अर्थके रूपमें माना जाय तो मुख्यार्थ होता है वह सर्वथा
संबृतिरूप नहीं होता और यदि संबृतिरूपमें उसे माना जाय तो
संबृति विना मुख्यार्थके बनती नहीं—मुख्यके बिना उपचारकी
प्रवृत्ति होती ही नहीं; जैसे सिंहके सद्भाव-विना सिंहका चिन्ह
नहीं बनता ।’

चतुष्कोटि-विकल्पके अवकल्यकी बोद्ध-मान्यता

चतुष्कोटिर्विकल्पस्य मर्दान्तेषूक्त्ययोगतः ।

तत्त्वाऽन्यत्वमवाच्य चेत्योः सन्तानतद्रूतोः ॥४५॥

‘यदि (बीढ़ोंकी ओरसे) यह कहा जाय कि चूँकि सब धर्मों-
में चतुष्कोटिविकल्पके कथनका अयोग है—सत्त्व-एकत्वादि किसी
भी धर्मके विषयमें यह कहना नहीं बन सकता कि वह सत्-रूप
है या असत्-रूप है अथवा सत्-असत् दोनों (उभय) रूप है या
दोनोंरूप नहीं (अनुभयरूप) है; क्योंकि सर्वथा सत् कहने पर

उसकी उत्पत्तिके साथ विरोध आता है, सर्वथा असत् कहनेपर शून्य-पक्षमें जो दोष दिया जाता है वह घटित होता है, सर्वथा उभयरूप कहनेपर दोनों दोषोंका प्रसंग आता है और सर्वथा अनुभव पक्षके लेनेपर वस्तु निर्विषय, नीरूप, निःस्वभाव अथवा निरूपारूप ठहरती है और तब उसमें किसी भी विकल्पकी उत्पत्ति नहीं बनती—अतः उन सन्तान सन्तानीका भी तत्त्व (एकत्व—अमेद) धर्म सथा अन्यत्व (नानात्व—भेद) धर्म (धर्म होनेसे) अद्वाच्य ठहरता है। तदनुसार उभयत्व-अनुभवत्व धर्म भी (अद्वाच्य द्वारा है), क्योंकि दस्तुके धर्मोंमें इस्तुते सर्वथा कर्त्त्व (अभिन्न) कहनेपर, वस्तुमात्रका प्रसंग आता है, वस्तुसे सर्वथा अन्य (भिन्न) कहनेपर व्यपदेशकी सिद्धि नहीं होती अर्थात् यह कहना नहीं बनता कि अमृक वस्तुका यह धर्म है, सर्वथा उभय (भिन्नभिन्न) कहनेपर दोनों दोष आते हैं और सर्वथा अनुभव (न भिन्न और न अभिन्न) कहनेपर वस्तु निरूपारूप एवं निःस्वभाव ठहरती है—इससे सन्तान-सन्ततिके धर्म-विषयमें कुछ भी कहना नहीं बनता; (तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि)'

अवक्तव्यकी उक्त मान्यतामें दोष

अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोऽपि न कथ्यताम् ।

असर्वान्तमवस्तु र्यादविशेष्य-विशेषणम् ॥४६॥

'तब तो (बौद्धोंको) 'चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य है' यह भी नहीं कहना चाहिये;—क्योंकि सब धर्मोंमें उक्तिका अयोग बतलाने अर्थात् सर्वथा अवक्तव्य (अनभिलाच्य) का पक्ष लेनेपर 'चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य है' यह कहना भी नहीं बनता, कहनेसे कथनित वक्तव्यत्वका प्रसंग उपस्थित होता है और न कहनेसे दूसरोंको उसका बोध नहीं कराया जा सकता। ऐसी स्थितिमें उसके सर्वविकल्पातीत्व फलित होता है। जो सर्व विकल्पातीत है वह असर्वान्त (सब धर्मोंसे रहित) है और जो असर्वान्त है वह (आकाश-कुसुमके समान) अवस्तु है; क्योंकि उसके विशेष-

विशेषणभाव नहीं बनता—न वह विशेष्य है और न विशेषण।'

(और यदि यह कहा जाय कि स्वसंवेदनसे विशेषण-विशेष्य-रहित ही तत्त्व प्रतिभासित होता है तो वह ठीक नहीं; क्योंकि स्वसंवेदनके भी सत्त्व (अस्तित्व) विशेषणकी विशिष्टतासे विशेष्य का ही अवभासन होता है । स्वसंवेदनके उत्तरकालमें होनेवाले विकल्पबुद्धिमें 'स्वका संवेदन' इस प्रकार विशेषण-विशेष्यभाव अवभासित होता है—स्वसंवेदनके स्वरूपमें नहीं । यदि यह कहा जाव कि स्वसंवेदन अविशेष्य-विशेषणरूप है और वह स्वतः प्रतिभासित होता है तो इससे (भी) स्वसंवेदनमें विशेषण-विशेष्यभाव सिद्ध होता है; क्योंकि वैसा कहनेपर अविशेषणविशेष्यत्व ही विशेषण हो जाता है ।)

निषेध मत्का होता है असत्का नहीं

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः सञ्ज्ञिनः गतः ।

असद्भेदो न मावस्तु सञ्जनं विधि-निषेधयोः ॥४७॥

'यदि विशेषण-विशेष्यभावको सर्वथा असत् माना जाय तो उसका निषेध नहीं बनता; क्योंकि,) जो संज्ञी (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा) सत् होता है उसीका परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा निषेध किया जाता है, न कि असत्का । सर्वथा असत् परार्थे तो विधि-निषेधका विषय ही नहीं होता—जो पदार्थे परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षाके समान स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-की अपेक्षासे भी असत् है वह सर्वथा असत् है, उसकी विधि कैसी ? जिसकी विधि नहीं उसका निषेध नहीं बनता; त्योंकि निषेध विधि-पूर्वक होता है । और इसलिये जो सत् होकर अपने द्रव्यादिकी अपेक्षा कथंचित् बक्तव्य है उसीके (परद्रव्यादिकी अपेक्षा निषेध होनेसे) अवक्तव्यपना युक्त ठहरता है । और जो सत्-पदार्थ स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा कथंचित् विशेषण-विशेष्यरूप है उसीके (परद्रव्यादिकी अपेक्षा) अविशेष्य-विशेषणपना तोक घटित होता

अतः एकान्तसे कोई वस्तु अवकल्य या अधिशेष्य-विशेषणरूप नहीं है, ऐसा बौद्धोंको जानना चाहिये ।'

अवस्तुकी अवकल्यता और वस्तुकी वस्तुता

अवस्तुनभिलाप्यं स्यात्सर्वान्तीः परिवर्जितम् ।

वस्तुवाऽवस्तुता याति प्रक्रियाया विषयात् ॥४८॥

‘जो सर्वधर्मोंसे रहित हैं वह अवस्तु है—किसी भी प्रमाणका विषय न होनेसे—और जो अवस्तु है वह (ही सर्वथा) अनभिलाप्य (अवाच्य) है न कि वस्तु; क्योंकि जो वस्तु है वह प्रमाणके द्वारा परिनिष्ठित (प्रतिष्ठित) होनी है और इसलिये सर्वथा अनभिलाप्य नहीं होती ।’

(यदि यह कहा जाय कि सकल-धर्मोंसे रहित निरूपात्म्य वस्तु स्याद्वादियोंके द्वारा स्वीकृत नहीं है तब उनका यह वचन कि ‘अवस्तु अनभिलाप्य है’ युक्त नहीं जान पड़ता, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वधर्मोंसे रहित अवस्तुका अनभिलाप्यरूपमें कथन पर-परिकल्पनामात्रसे सम्बन्ध रखता है, न कि प्रमाणब्रलसे), प्रमाणब्रलसे तो वस्तु ही अवस्तुताको प्राप्त होती है, प्रक्रियाके विपरीत ही जाने अथवा बदल जानेसे अर्थात् जब किसी वस्तुकी स्वद्रव्यादिचतुष्टयलक्षण-प्रक्रिया, जो कि कथंचिद्रूपको लिये हुए होती है, बदल जाती है—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षाको धारण करती है—तब वह वस्तु ही अवस्तु बन जाती है। जैसे स्वरूपसिद्ध घटके पटादि-पररूपोंकी अपेक्षा—पटादिके किसी भी रूपको घट माननेकी हृष्टिसे—अघटपना है।

(यदि यह कहा जाय कि वस्तुको ही अवस्तु बतलाना परस्पर विरुद्ध है; क्योंकि वस्तु और अवस्तुकी स्थिति एक-दूसरेके परिहाररूप है—वस्तु अवस्तु नहीं होती और न अवस्तु कभी वस्तु बनती है—तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अभाव-व्याचक शब्दोंके वचन-द्वारा भी भावकृत अभिधान (कथन) होता है; जैसे

‘अब्राह्मणको लाभो’ इस वाक्यमें ‘अब्राह्मण’ शब्द ब्राह्मण-वस्तुके अभाव (निषेध) का वाचक होते हुए भी ब्राह्मणसे भिन्न अन्य क्षत्रियादिवस्तुके अभावका वाचक नहीं किन्तु उनके भावका ही वाचक है और इसलिये उक्त वाक्यके द्वारा यह समझा जाता है कि ‘ब्राह्मणको नहीं किन्तु क्षत्रियादिको बुलाया जा रहा है।’ तदनुसार ही क्षत्रियादिको लाकर उपस्थित किया जाता है। इस तरह ब्राह्मण कोई वस्तु है उसीको ‘अब्राह्मण’ शब्दके-द्वारा कथचित् अवस्तु कहा गया है, सर्वथा अभावरूप अवालु नहीं और इसलिये अवालुपुर्ण आशय यह अविवक्षित वस्तु समझना चाहिये। अविवक्षित (गौण) वस्तु विवक्षित (मुख्य) वस्तुके अस्तित्व (भाव) के बिना नहीं बनती (पूर्वाङ्गते गौण-विधिनं दृष्टः) और न स्वयं अस्तित्व-विहीन नहीं है। इसीसे अहन्तानुयायी स्याद्वादियोंके यहाँ वस्तुको ही अवस्तु कहनेमें कोई विरोध नहीं आता—मुख्य-गौणकी व्यवस्था-विधिसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप प्रक्रियाके स्वसे पर और परसे स्वरूपमें बदल जानेसे यह सब सुघटित होता है। इसीसे कोई वस्तु सर्वथा भावरूप नहीं है, स्वरूपकी तरह पररूपसे भी भावका प्रसंग आनेसे; और न सर्वथा अभावरूप ही है, पररूपको तरह स्वरूपसे भी अभावका प्रसंग उपस्थित होनेसे। वस्तुको सर्वथा भाव या सर्वथा अभावरूप माननेसे वस्तुकी कोई व्यवस्था ही नहीं बनती। प्रत्येक वस्तु भावकी तरह अभाव-धर्मको भी साथमें लिये हुए है और वह भी वस्तुकी व्यवस्थाका अंग है। उसे छोड़ देनेपर वस्तु-व्यवस्था बन ही नहीं सकती। इसीलिये स्याद्वादियोंके यहाँ अपेक्षावश कथचित् भावाऽभावरूपसे वस्तुका प्रतिपादन किया जाता है।)

सर्वं धर्मोंके अवशेष होनेपर उनका कथन नहीं बनता

सर्वान्ताइचेद्वक्तव्यास्तेषां कि वचनं पुनः ।

संवृतिश्चेन्मूर्धैवेषा परमार्थ-विपर्ययात् ॥४९॥

'यदि (अणिक एकान्तवादी बौद्धोंके द्वारा) यह कहा जाय कि 'सर्व धर्म अवकृत्य है'—सर्वथा वचनके अगोचर हैं—तो फिर उसका धर्म-देशना-रूप तथा स्वपक्षके सम्बन्ध और पर-पक्षके दूषणरूप वचन कैसा ?—वह किसी तरह भी नहीं बन सकेगा और एकमात्र मौनका ही बारण लेना होगा; क्योंकि 'सर्व धर्म अवकृत्य है' इस कथनमें स्ववचन-विरोधका दोष उसी तरह सुधित होता है जिस तरह कि कोई अपने मुखसे दूसरोंको यह प्रतिपादन करे कि 'मैं सदाके लिये मौनव्रती हूँ'; क्योंकि उस समय वह बोल रहा है इसलिये उसका सदाके लिये मौनव्रती होना स्वयं उसके उस वचनसे ही बाधित हो जाता है। सर्व धर्मोंके सर्वथा अवकृत्य होनेपर उनकी कोई चर्चा-वार्ता नहीं बन सकती, उन्हें अवकृत्य कहना भी नहीं बनता, अवकृत्य कहना भी उन्हें बक्तव्य ठहराता है।'

'यदि यह कहा जाय कि उक्त वचन संवृतिरूप है—व्यवहारके प्रबलनार्थ उपचाररूपको लिये हुए है—तो इस संवृतिरूप वचनसे सम्बन्धका प्रतिपादन कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता; क्योंकि संवृति परमार्थके विपरीत—यथार्थताके विरुद्ध—होनेसे स्वयं बौद्धोंके यहीं मिथ्या मानी गई है। सर्वधर्म जब सर्वथा अवकृत्य है तब वे 'अवकृत्य हैं' इस वचनके-द्वारा भी बक्तव्य नहीं बन सकते और न दूसरोंको उनका तथा उनकी अवकृत्यताका प्रत्यय (बोध) कराया जा सकता है।'

अशक्यका हेतु अशक्ति, अभाव या अशोध ?

अशक्यत्वाददाच्यं किमभावात्किमवोधतः ।

आशन्तोक्ति-द्वयं न स्याकि व्याजेनोऽथतां स्फुटम् ॥५०॥

'यहीं अणिक एकान्तवादी बौद्धोंसे पूछा जाता है कि तुम्हारा यह सर्वथा अवकृत्य कथन किस हेतुपर अवलम्बित है। क्या अशक्तिके कारण ?—कथन करनेकी सामर्थ्य न होनेसे

अवक्तव्य है ?—या अभावके कारण ?—वस्तु-धर्मका अस्तित्व न होनेसे अवक्तव्य है ? अथवा अज्ञानके कारण ?—वस्तुधर्मोंकी अनभिज्ञता—अज्ञानकारीसे अवक्तव्य है ? (इन तीन कारणोंसे भिन्न अन्य कोई कारण नहीं हो सकता; क्योंकि मौनव्रत, प्रयोगनाभाव, भय और लज्जादिक जैसे कारणोंका, जो कि इन्द्रियताल्वादिकरणव्यापारकी अशक्तिमें निमित्तकारण होते हैं, अशक्तिमें ही अन्तर्भीर है।) इन तीनोंमें आदि और अन्तके बीचारणोंका (अशक्तितथा अज्ञान) का कथन तो बनता नहीं; क्योंकि बौद्धोंने महात्मा बुद्धको प्रजापारमिताके रूपमें सर्वज्ञ माना है और उसमें क्षमा, मेत्री, ध्यान, दान, वीर्य, शील, प्रजा, करुणा, उपाय और प्रभोद नामके दस बल अंगीकार किये हैं। ऐसी स्थितिमें उक्त दो कारणोंका कथन कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता। तब तीसरा कारण ही दोष रह जाता है। अतः अवक्तव्यका बहाना बनानेसे क्या ? स्पष्ट कहिये कि वस्तुतस्वका सर्वथा अभाव है—किसी भी वस्तुका कहीं कोई अस्तित्व नहीं है। ऐसा स्पष्ट कहनेसे मायाचारका दोष नहीं रहेगा, जो कि बुद्धके आस्त्वमें बाधक पड़ता है, और तब हस अवक्तव्यवाद और सर्वथा अभावरूप दूर्घट्यादमें कोई अन्तर नहीं रहेगा।'

क्षणिकान्तमें हिसा-अहिसादिकी विहम्बना

हिनस्त्यनभिसंघात् न हिनस्त्यभिसाधमत् ।

ब्रह्मते तदृद्यापेतं चिरं बद्धं न मुच्यते ॥५.१॥

(बौद्धोंके क्षण-क्षणमें निरन्वय-विनाशरूप सिद्धान्तके अनुसार) जो चित्त हिसाके अभिप्रायसे रहित है वह ते चित्त हिसा करता है, जो हिसा करनेके अभिप्रायसे युक्त है वह हिसा नहीं करता, जिसने हिसाका कोई अभिप्राय अथवा संकल्प नहीं किया और न हिसा ही को वह चित्त अन्धनको प्राप्त होता है और जो चित्त अन्धनको प्राप्त होता है उसकी मुक्ति नहीं होती—मुक्ति अन्ध

अब द्वन्द्वचित्तकी होती है, क्योंकि हिंसाका अपित्राद परदेशाद चित्त वैसा अभिशाय करनेके क्षणमें ही नष्ट हो जाता है और उत्तरक्षणमें दूसरा चित्त, जिसने हिंसाका कोई इरादा, विचार अथवा संकल्प नहीं किया, उस हिंसाकार्यको करता है, उस हिंसक चित्तके तत्क्षण नष्ट हो जानेपर तीसरे क्षणमें तीसरा ही चित्त, जिसने न तो हिंसाका कोई संकल्प किया और न हिंसाकार्य ही किया, उस द्वितीय चित्तके हिंसाकर्मसे बन्धनको प्राप्त होता है और बन्धको प्राप्त हुए उस तृतीय चित्तके भी तत्क्षण नष्ट हो जानेपर उसे उस पापकर्मके बन्धनसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती—तब मुक्ति किसकी होती है? क्या अब्द्वन्द्वचित्तकी भी मुक्ति बनती है? नहीं बनती। मुक्तिके बन्धपूर्वक होनेसे जब बन्धन ही नहीं तब बन्धनसे छुटकारा पानेरूप मुक्ति किसी? इस तरह बोद्धोंके यहीं कृतकर्मके फलका नाश और अकृतकर्मके फल-भोगका इसांग उपस्थित होता है—अर्थात् जिसने कर्म किया वह उसके फलका भोक्ता नहीं होता और जिसने कर्म नहीं किया उसे उस कर्मका फल भोगना होता है, जो कि एक उपहासका विषय है। इसके सिवाय जब द्वन्द्वचित्तकी मुक्ति नहीं होती तब मुक्तिके लिये यम-नियमादिका अनुष्ठान व्यर्थ ठहरता है।

नाशको निहेतुक माननेपर दोषापति

अहेतुकत्वाशाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः ।

चित्त-सन्तति-नाशश्च मोक्षो नाशाङ्ग-हेतुकः ॥५२॥

‘(क्षणिक एकान्तवादी बोद्धमतके अनुसार नाश स्वयं होता है, उसका कोई कारण नहीं होता, जब नाशका कोई कारण नहीं होता तब हिंसक हिंसाका हेतु नहीं ठहरता।—किसीको हिंसक कहना नहीं बनता। हसी तरह चित्त-सन्ततिके नाशरूप जो धोक्ष आता गया है वह भी अष्टाङ्गहेतुक नहीं बनता। बोद्धोंके यहीं मोक्ष (निवाण) को जो सम्यक्त्व, सज्जा, संज्ञी, वाक्काय-

कर्म, अन्तव्यायाम, अजीव, समृति, और समाधि इन आठ हेतुओंसे हुआ बतलाया जाता है वह नाशके निहेंतुक होनेसे उसी तरह वाधित ठहरता है जिस तरह सुगतके सर्वज्ञता और असर्वज्ञता दोनोंका कथन विरुद्ध ठहरता है।'

‘हित्यायामिभौं लिते हेतुर्भाग्याद्यत्वे देवः ॥

विरूप-कायरिम्भाय यदि हेतु-समागमः ।

आश्रियामनन्योऽसाविशेषाद्युक्तवत् ॥४३॥

‘(जीद्वमतमें अन्यके अभाव अथवा निरन्वय-विनाशके स्वीकार करनेसे स्वरूप-सदृशकार्य कोई होता नहीं, तब) यदि दोनोंके द्वारा विसदृशकार्यके आरम्भके लिये हेतुका समागम इष्ट किया जाता है—हिसाके हेतुरूप हिसक (वधक) का और मोक्षके हेतुरूप सम्यक्त्वादि अष्ट-अंगका व्यापार माना जाता है—तो वह हेतु-समागम भाश तथा उत्पाद दोनोंका कारण होनेसे उनका आश्रयभूत है और इसलिये अपने आश्रयों नाश और उत्पादरूप दोनों कार्योंके साथ अनन्यरूप है—जो मुद्गर-प्रहार घटनाश-कार्यका हेतु है वही कपालों (ठीकरों) के उत्पाद-कार्यका भी हेतु है, दोनों कार्योंका हेतु भिन्न-भिन्न न होनेसे दोनोंके लिये अयुक्तकी भाँति—तादात्म्यको प्राप्त शीशमण्डना और दृक्षपनाके कारण-कलापकी तरह—एक ही हेतुका व्यापार ठीक प्रटित होता है और इससे जीद्वोंका नाश-कार्य भी सहेतुक ठहराता है, जिसे वे निहेंतुक बनलाते हैं, यह एक हेतु-दोष इस हेतु-समागमकी मान्यतामें उपस्थित होता है। यदि विनाशके लिये हेतुका समागम नहीं, तो उत्पादके लिये भी हेतुका समागम मत मानों; क्योंकि कार्यकी हृषित्से—नाश और उत्पाद दोनोंमें कोई भेद न होनेसे—एकको निहेंतुक और दूसरेको सहेतुक बतलाना युक्ति-लंगत नहीं कहा जा सकता।’

व्याख्या—जीद्वोंसे प्रश्न है कि यदि विनाश निहेंतुक है,

उसका कोई कारण नहीं है, वह स्वरसतः होता है, तो कारणों—(हिंसाजनक हिंसक और मोथहेतु सम्यक्त्वादि अष्टाङ्ग) का व्यापार किसके लिए होता है ? इस प्रश्नका वे यह समाधान करते हैं कि विसदृश-कार्यके उत्पादके लिए कारणोंका व्यापार होता है। परन्तु उनका यह समाधान ठीक नहीं है; क्योंकि कारणोंका व्यापार नाश तथा उत्पाद दोनोंका जनक होनेसे आश्रय है और आश्रय अपने आश्रयीसे—उत्पाद-नाशसे—अनन्य-अभिन्न होता है, भिन्न नहीं। अरण कि एवं दोनोंमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रवर्तर कि अपृथक्-सिद्ध पदार्थोंके कारण-व्यापारमें भेष नहीं होता। शिशापा और बृक्ष तथा चित्रज्ञान और नीलादि-निर्भास इन अपृथक्-सिद्ध पदार्थोंसे उनका कारण-व्यापार भिन्न नहीं है। एक कारण-समूहसे ही उनका आत्मलाभ होता है। वास्तवमें जो पूर्वाकारका विनाश है वही उत्तराकारका उत्पाद है। अतः दोनोंका कारण एक ही सामग्री है, भिन्न नहीं। अन्यथा, वैशेषिक मतका प्रसंग आवेगा। कैसा आश्चर्य है कि विसदृश-कार्यके उत्पादक कारणोंसे विनाशके कारण भिन्न न होनेसे उसे तो निहेतुक स्वीकार किया जाता है, और विनाशके कारणोंसे उत्पादके कारण भिन्न न होनेसे उसे निहेतुक नहीं माना जाता ! अतः नाश और उत्पादमें कोई अन्तर न होनेसे दोनोंको सहेतुक या अहेतुक मानना चाहिए। एकको अहेतुक और दूसरेको सहेतुक मानना युक्तियुक्त नहीं है।

स्थित्युत्पत्तिव्यय नहीं बनता।

स्फन्द-सन्ततयश्चैव संबृतित्वादसंस्कृताः ।

स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्युः स्वर-विषाणवत् ॥५४॥

'(जब क्षणिक एकान्तवादी बौद्धोंके द्वारा विरूप-कार्यारम्भके लिये हेतुका समागम माना जाता है तब यह प्रश्न पैदा

होता है कि उस हेतुसे परमाणु-क्षण उत्पन्न होते हैं या स्कन्ध-सन्ति-नियमी ? प्रथम पक्ष परमाणु-क्षणोंका उत्पन्न होना माननेसे स्थाप्य-स्थापक और विनाश्य-विनाशकभावकी तरह हेतु-फलभावकी भी विरोध उपस्थित होता है । तब सहेतुक उत्पत्ति कैसे बन सकती है ? कार्य-कारणके अभाव होनेपर ये स्थिति, उत्पत्ति और व्यय धर्म विरोधको प्राप्त होते हैं; क्योंकि परमाणु निरर्षा होते हैं । “न हेतु-फलभावादिरन्यभावादनन्वयात्” इस वाक्य-द्वारा ४३वीं कारिकाके अस्तर्गत क्षणिक-एकान्तमें पहले ही कार्यकारण-भावका निषेध किया जा चुका है । स्थिति और विनाशकी तरह अहेतुक उत्पत्ति भी नहीं बनती; क्योंकि स्थाप्य-स्थापकके अभावमें जिस प्रकार विनाशका अभाव होता है उसी प्रकार हेतु-फलभावके अभावमें उत्पत्तिका भी अभाव होता है, तब सहेतुका उत्पत्तिकी कल्पना कैसी ? यदि दूसरा पक्ष—स्कन्ध-सन्तियोंका उत्पन्न होना—माना जाय तो) स्कन्ध-सन्तियों बौद्धोंके यही परमाणुतत् न होनेसे असंस्फुल्ल है—अकार्यरूप है—तब उनके लिये हेतुका समाप्तम कैसा ? साध्यके अभावमें साधनका भी अभाव होता है । अतः (रूप, वेदना, विज्ञान, संश्ला और संस्कार रूपमें माने गये) बौद्धोंके जो पांच स्कन्ध हैं वे कोई परमाणुर्थिक सत् न होकर संवृतिरूप-कल्पना-भाव हैं उनके स्थिति, उत्पत्ति और विनाशका विज्ञान गषेके सींगकी तरह नहीं बनता ।—गधेके सींगका सद्भाव न होनेसे जैसे उसमें स्थिति, उत्पत्ति और विनाश ये तीनों घटित नहीं होते वैसे ही परस्पर असंबद्ध रूप-रस-नन्ध-स्पष्टकि परमाणुरूप ‘रूपस्कन्ध’, सुख-दुःखादिरूप, ‘वेदनास्कन्ध’ सविकल्पक और निविकल्पक ज्ञानके भेदरूप विज्ञानस्कन्ध, वृक्षादि वस्तुओंके नाम (शब्द) रूप संज्ञास्कन्ध और ज्ञान-पुण्य-प्राप्तकी वासनारूप संस्कार-स्कन्ध जब वास्तविक न होकर काल्पनिक हैं तो उनके स्थिति-उत्पत्ति और विनाश ये तीनों घटित नहीं होते और इनके धर्म

न होनेसे वे कोई कायं नहीं रहते तब उनके लिये हेतु-समागमकी कल्पना ही अपर्यं छहरती है ।'

उभय तथा अवश्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्तोभयैकात्म्यं स्थानाद-न्याय-विर्द्धिषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिनांवाच्यमिति युज्यते ॥५५॥

‘यदि नित्यस्व और अनित्यस्व दोनों एकान्तपक्षोंको एक रूपमें माना जाय तो वह बात स्थानादन्यायके विहुचियोंके—सदैव एकान्तवादियोंके—यहाँ बनती नहीं; क्योंकि इस मान्यतामें विरोध दोष आता है—जैसा कि एक साथ जीने-मरनेमें विरोध है वैसा ही विरोध यही भी घटित होता है ।’

(यदि दोनों एकान्तोंका तात्पार्य जाना जाए तो नित्यस्व और अनित्यस्व दोनों या तो नित्यस्वरूपमें परिणत हो जायेंगे या अनित्यस्वरूपमें; क्योंकि तात्पार्यस्थामें विरोधी स्थिति न रहकर एक ही स्थिति हो जाती है। जब नित्यस्व-अनित्यस्वरूप दोनों एकान्तोंमें से किसी एक ही एकान्तकी स्थिति रही तब युगपत् उभय एकान्तोंकी मान्यता विरुद्ध छहरती है ।)

‘यदि (नित्यस्व व अनित्यस्व दोनों एकान्तोंकी मान्यतामें विरोधकी उपस्थितिके भयसे) अवाच्यता (अनभिलाप्यता) का एकान्त माना जाय तो वह भी नहीं बनता; क्योंकि सर्वथा अवाच्यका सिद्धान्त माननेपर ‘तस्य सर्वथा अनभिलाप्य है’ ऐसा अभिलाप (वचन-व्यवहार) करनेवाले बोलोंके स्ववचनविशेष उपस्थित होता है—उसी प्रकार जिस प्रकार कि उस पुरुषके उपस्थित होता है जो वह कहे कि ‘मैं सदा मौनवत्ती हूँ’; क्योंकि उसका वैसा कहना उसके सदा मौन-व्रतका विरोधी है ।’

नित्य-क्षणिक-एकान्तोंकी निर्वौष व्यवस्थाविधि

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानाभाकस्मात्सदविच्छिदा ।

क्षणिकं कालमेदात्ते चुद्यसंचरदोषतः ॥५६॥

(हे स्पाद्वादन्याय-नायक अर्हन् भगवन्) आपके महामें (सम्पूर्ण जीवादि) वस्तुतत्त्व कथंचित् नित्य है; क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान होता है—यह वही है जो पहले देखा था, ऐसा पूर्वोत्तर-वशामें जो एकत्वका बोध होता है वह उसके नित्यत्वको सिद्ध करता है। और यह प्रत्यभिज्ञान अकस्मात्—बिना किसी कारणके निविषय तथा भान्तरूप—नहीं होता; क्योंकि अविष्टेद रूपसे बिना किसी बाधकके बन्तुभवमें आता है। (यदि प्रत्यक्षको बाधक माना जाय तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षका विषय वर्तमान पर्यायात्मक वस्तु होनेसे पूर्वजिपर-पर्यायव्यापी एकत्वलक्षण प्रत्यभिज्ञानके विषयमें उसकी प्रवृत्ति नहीं दरती। जो अपना विषय नहीं, उसमें कोई बाधक या साधक नहीं होता, जिसे श्रोत्रहन्दियके जान-विषयमें चक्षुहन्दियका लाभ :)

और आपके मतमें वस्तुतत्त्व कथंचित् क्षणिक है—अनित्य है; क्योंकि उसमें कालके भेदसे परिणाम-भेद पाया जाता है—क्षण-क्षणमें वस्तुकी पर्यायें पलटती रहती हैं, जो कथंचित् एक-दूसरेसे भिन्न होती हैं। पर्यायोंके इस पलटन (परिवर्तन) एवं परिणामसे वस्तुमें प्रतिक्षण उत्पाद-व्ययके होते रहनेपर भी वस्तुका अपने ग्रौष्य गुणके कारण कभी नाज नहीं होता। इसी पर्यायहस्तिसे वस्तु कथंचित् क्षणिक है—सर्वथा क्षणिक नहीं। वस्तुको सर्वथा क्षणिक तथा सर्वथा नित्य माननेपर ज्ञानका संचार नहीं जन सकेगा, यह दोष आएगा। ज्ञानका संचार अनेकान्तकी मान्यतामें ही प्रतीतिगोचर होता है।'

उत्पाद-व्यय सामान्यका नहीं, दिनेवारा होता है

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यवत्मन्वयात् ।

व्येत्पुदेति विशेषात्मे सहैकत्रोदयादि सत् ॥७७॥

(हे भगवन् !) आपके मतमें सामान्य स्वरूपसे—सर्व-

बवस्थाओं अथवा पूर्वोत्तर-पर्यायोंमें साधारण स्वभावरूपसे रहने-
वाले द्रव्यकी हृष्टिसे—ज तो पाँई वरतु उत्पन्न होती है और ज
विनाशको प्राप्त होती है; क्योंकि प्रकट अन्वयरूप है—वस्तुका
सामान्य स्वरूप जो द्रव्यस्वभाव है वह उसकी सब अवस्थाओंमें
सदा स्थिर रहता है।'

(यदि यह कहा जाय कि काटे हुए नख-केश फिरसे उपजते
हैं, उनमें अन्वयके दर्शन-द्वारा व्यभिचार-दोष आता है, क्योंकि
उनमें उत्पत्ति और विनाश दोनों दिखाई पड़ते हैं जब कि अन्वयके
कारण वे दोनों न होने चाहिये थे, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है;
कारण कि अन्वयके साथ 'व्यक्त' विशेषण लगा हुआ है, जो इस
वातका सूचक है कि एकत्वान्वय प्रमाणसे बाधित नहीं होना
चाहिये। यहाँ पे नखादिक वे ही हैं ऐसा एकत्वान्वय प्रकट-प्रमाण-
से बाधित है, क्योंकि उल्लंघन नखादिक वे ही न होकर उनके सहश
हैं जो कट नुके हैं।)

'विशेषरूपसे—पर्याय अथवा व्यतिरेककी हृष्टिसे—वस्तु
विनशती तथा उपजती है। एक वस्तुमें मुगफ्त उत्पाद, अथवा
और ध्रोव्यका होना 'सत्' कहलाता है—जंसाकि सूत्रकारके
उत्पाद-व्यय-ध्रोव्यकृतं सत्' इस वचनसे भी जाना जाता है।'

उत्पादादिकी मिन्तता और निरपेक्ष होनेपर अवस्था
कायोत्पादः क्षयो हेतोनियमान्त्लक्षणात्पृथक् ।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥५८॥

'हेतुका—उपादानकारणका—जो अय है—पूर्वकारसे विनाश
है—यह उल्लाकाररूप कायंका उत्पाद है; क्योंकि दोनोंके एक
हेतुका नियम है—जो हेतु उत्पादरूप कायंके उत्पादका है वही उपा-
दानके विनाशका हेतु है। इससे बीद्रोंका उत्पादको सहेतुक और
विनाशको निहेतुक बतलाना बाधित ठहरता है। (इस पर यदि

यह कहा जाय कि उत्पाद और विनाश दोनोंका एक ही हेतु होनेपर दोनों अभिन्न लहरते हैं, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि उत्पाद और विनाश दोनों लक्षणभेदके कारण एक दूसरेसे कथंचित् भिन्न हैं—कार्योत्पादका लक्षण स्वरूपलाभ है और हेतुकायका लक्षण स्वभावप्रवृत्ति है। इस तरह भिन्न लक्षणसे लक्षित होनेके कारण दोनों कथंचित् भिन्न हैं—सर्वांग भिन्न नहीं। जाति आदिके अवस्थानके कारण नाश और उत्पाद दोनों भिन्न ही नहीं, कथंचित् अभिन्न भी हैं; क्योंकि मिट्टी आदि द्रव्यके बिना घटका नाश और कपालका उत्पाद नहीं बनता—नाश और उत्पाद दोनों पर्यायकी अपेक्षासे हैं, जात्यादिके अवस्थानरूप सद्ग्रव्यकी अपेक्षासे नहीं। सद्ग्रव्य मिट्टी आदि है, वही घटाकार रूपसे नष्ट हुई और कपालके रूपसे उत्पन्न हुई, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौद्य परस्पर अपेक्षा न रखें, तो सीधों ही आकाशके पुष्पके समान अवस्तु लहरे—स्थिति और विनाशके बिना केवल उत्पाद नहीं बनता, नाश और उत्पादके बिना स्थिति नहीं बनती और स्थिति तथा उत्पादके बिना विनाश नहीं बनता। इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि जो सत् है वह उत्पाद-व्यय-ध्रौद्यसे युक्त है, अन्यथा उसका सत्त्व ही नहीं बनता, वह आकाशकुसुमके सहश अवस्तु लहरता है।'

एक द्रव्यकी नाशोत्पादस्थितिमें भिन्न भावोंकी उत्पत्ति

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयस् ।

शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥

'(सुवर्ण घटकी तोड़कर मुकुटके बनाये जानेपर) मात्रा उत्पाद और स्थितिकी जो अवस्थाएं होती हैं, उनमें यह घटका अर्थों जन शोक (विषाद) को, मुकुटका अर्थों हृषको और सुवर्णका अर्थों शोक तथा हृषसे रहित मध्यस्थ्य-भावको ग्रास होता है और

यह सब सहेतुक होता है—घटार्थीकि शोकका कारण घटका नाश है, मुकुटार्थीकि हर्षका कारण मुकुटका उत्पाद है और सुवर्णार्थीकि मध्यस्थ-भावका कारण सुवर्णकी स्थिति है—जो सुवर्ण घटके रूपमें था वही मुकुटके रूपमें विद्यमान है, इससे उसके लिये शोक तथा हर्षका कोई कारण नहीं रहता। बिना हेतुके उन घट-मुकुट-सुवर्णार्थीयोंके शोकादिकी उत्पत्ति नहीं बनती।'

(बीड़ोंका जो यह कहना है कि विषादादिके कोई हेतु नहीं होते; किन्तु पूर्वविषादादिके वासनामात्र-निमित्तसे विषादादिक उत्पन्न होते हैं, वह ठीक नहीं; क्योंकि पूर्वविषादादिके वासनामात्र निमित्तके होते हुए भी उन विषादादिके नियमका संभव नहीं।)

इस तरह लौकिक जनोंकी उत्पाद-व्यवस्थात्मतात्त्विके भेदसे यह सिद्ध है कि वस्तु उत्पाद, व्यष्टि और धौव्य ऐसे लैलूपमें व्यवस्थित हैं। अब एक दूसरे उत्पादन्नारा इस विषयको और साध किया जाता है।

प. पृ. अ चिन्त्य प्रजाशक्ति

वस्तुतत्त्वकी त्रयात्मकता ५ दुखा मूलि १०८ ६०

पयोगतो न दश्यति न पयोगिति दधिकृतः ॥
अगोरमव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

'जिसके दूध लेनेका बत है—आज मैं दूध ही लूँगा ऐसी प्रतिशा है—वह वही नहीं खाता, जिसके वही लेनेका बत है वह दुध नहीं पीता और जिसका गोरस न लेनेका बत है वह दूध-वही दोनों ही नहीं खाता। इससे भालूम होता है कि वस्तुतत्त्व त्रयात्मक है—पुण्यत उत्पाद-व्यष्टि-धौव्यरूप है।'

व्याख्या—एक ही वस्तुमें प्रतीतिका नानापन उस वस्तुके विनाश, उत्पाद और स्थिति (धौव्य) का साधक जान पड़ता है—जो दूधरूपसे नाशको प्राप्त हो रहा है वही दधिरूपसे उत्पद्य-मान और गोरसरूपसे विद्यमान (धौव्य) है; क्योंकि दूध और

दही दोनों ही गोरसरूप हैं। गोरसकी एकता के होते हुए भी जो विधिरूप है वह दुर्घरूप नहीं; जो दुर्घरूप है वह विधिरूप नहीं; ऐसा व्रतियोंके द्वारा द्रव्य-पर्याप्तिकी विभिन्न प्रतीति-वश मेद किया जाता है। यदि प्रतीतिमें त्रिरूपता न हो तो एकके प्रदर्शनमें दूसरे का स्थान नहीं बनता।

इस तरह वस्तुतर्स्वके ज्यात्मक साधन-द्वारा उसका प्रस्तुत नित्य-अनित्य और उभय-साधन भी विरोधको प्राप्त नहीं होता; क्योंकि एक ही वस्तुमें स्थिरताके व्यवस्थापन-द्वारा यह कथंचित् नित्य और नाशोत्पादके प्रतिष्ठापन-द्वारा कथंचित् अनित्य सिद्ध होता है और इसलिये यह ठीक कहा जाता है कि सम्पूर्ण वस्तु-समूह कथंचित् नित्य ही है, कथंचित् अनित्य ही है, कथंचित् उभय-रूप ही है, कथंचित् अवक्तव्य ही है, कथंचित् नित्यावक्तव्य ही है, कथंचित् अनित्यावक्तव्य ही है और कथंचित् उभयावक्तव्य ही है। और इस सप्तभंगीकी व्यवस्थापन प्रक्रियाको उसी प्रकारसे नय-प्रमाणकी अपेक्षासे योजित करना चाहिये जिस प्रकार कि वह भावादि तथा एकादि सप्तभंगियोंकी व्यवस्थाके लिये की गई है।

इति देवागमाप्तमीमांसायां तृतीयः परिच्छेदः

चतुर्थ परिच्छेद

कार्य-कारणादिकी सर्वथा भिन्नताका एकान्त
कार्य-कारण-नानात्म्यं गुण-गुण्यन्यतापि च ।
सामान्य-तद्वदन्यत्वं चैकान्तेन यदीच्यते ॥६१॥

‘थवि (वैशेषिकमतावलम्बियोंके मतानुसार) एकान्तसे—सर्वथा रूपमें—कार्य-कारणका भेद नाना जाता है, गुण-गुणीकी भिन्नता स्वीकार की जाती और सामान्य तथा सामान्यवान् जो द्रव्य-गुण-

कर्मरूप क्रिक है उसका एक-दूसरे से अन्यत्व इष्ट किया जाता है (तो उसमें जो बाधा आती है उस बाधे अत्यधि आता है ।)'

व्याख्या—यहीं वेशेषिकमतानुसार 'कार्य' शब्दसे चलनादि क्रियारूप कर्मका, तन्तु आदि अवयवरूप कारणके अवयवीका, संयोगादिरूप अनित्य गुणका और प्रध्वंसाभावका ग्रहण है, 'कारण' शब्द समवायीका, समवायिवानुका (कर्मवानुका), अनित्यगुणवानुका, पटादि अवयवोंका) और प्रध्वंसके प्रति कारणका वाचक है; 'गुण' शब्द नित्य-गुणका, 'गुणी' शब्द गुणके जाग्रणभूत द्रव्यका, 'सामान्य' शब्द पर-अपर-जातिका और 'सामान्यवान्' शब्द द्रव्य-गुण-कर्मरूप वर्थका वोचक है। वेशेषिकमतका कथन है कि क्रिया-क्रियावानुका; समवाय-समवायीका, अवयव-अवयवीका, गुण-गुणीका, विशेषण-तदविशेष्यका, सामान्य-तत्सामान्यवानुका और अभाव-तदविशेष्यका एक-दूसरे से संबंध मिलपना ही है; क्योंकि उनका भिन्न प्रतिभास होता है, सहाचल-विन्ध्याचलकी तरह ।

अपने इस 'भिन्नप्रतिभासत्व' हेतुको असिद्ध-विरुद्धादि दोषोंसे रहित सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है और उस प्रयत्नमें एक बात यह भी कही गई है कि कार्य-कारणादिका लक्षण एक दूसरे से भिन्न है और वह भिन्न-लक्षण भिन्न प्रतिभासका हेतु है, क्योंकि यदि एक है तो उसका भिन्न-लक्षणसे प्रतिभास नहीं होता । इससे भिन्न-प्रतिभास हेतु विरुद्ध नहीं है, क्योंकि भिन्नलक्षणलक्षित विपक्षमें उसको वृत्तिका अभाव है । दूसरी बात यह भी कही जाई है कि जिनका ऐसा अनुमान है कि कार्य-कारणका, गुण-गुणीका तथा सामान्य-सामान्यवानुका एक-दूसरे के साथ तादात्म्य है— अभेद है; क्योंकि उनका देश (क्षेत्र) अभिन्न है । जिनका तादात्म्य नहीं होता उनका देश अभिन्न नहीं होता, जैसे कि सहाचल और विन्ध्याचलका । प्रकृत कार्य-कारणादिका देश अभिन्न है । अतः उनका तादात्म्य है; और इस अनुमानसे ये कार्य-कारणादिके

भिन्नताके एकान्तको बाधित रहते हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि देशाभ्येद दो प्रकारका है—एक शास्त्रीय और दूसरा लौकिक। कार्य-कारणादिका शास्त्रीय देशाभ्येद असिद्ध है—शास्त्रकी अपेक्षा-से पटादिरूप कार्यका स्वकीय कारण तन्तुसमूह और तन्तुओंका कारण कपासादि इस तरह सबका स्व-अन्य-कारणदेशकी हरष्टसे देशभेद ही है। लौकिक देशाभ्येदका आकाश-आत्मादिके साथ व्यभिचारदोष घटित होता है; क्योंकि लौकिक देशकी अपेक्षा आकाश और आत्मादिके भिन्न-देशका अभाव होने पर भी उनका सादात्म्य नहीं है।

उक्त भिन्नतेकान्तमें दोष

एकस्याऽनेक-वृत्तिर्ण भाग्याऽमावादूबहूनि वा ।
भागित्वाद्वाऽस्य नैकत्वं दोषो वृत्तेस्नाहते ॥६२॥

(यदि वैशेषिकमत्तानुसार कार्य-कारण, गुण-गुणी और सामान्य-सामान्यवान्‌को सर्वथा एक दूसरेसे भिन्न माना जाय तो) एक-की—पटादि अवयवीरूप कार्य-द्रव्यादिकी—(अपने आरम्भक तन्तु आदि) अनेकोंमें—कारणादिकमें—वृत्ति-प्रवृत्ति नहीं बनती; क्योंकि उस एकके विभागके अभावसे निरञ्जपना माना गया है—जबकि वृत्ति होनी चाहिये; अन्यथा कार्य-कारणभावादिका विरोध उसी तरह घटित होगा जिस तरह अकार्य-कारणरूप तन्तु-घटका और मृत्यिष्ठ-घटका कार्य-कारणभाव विरुद्ध होता है। यदि (अवयवी आदि) एककी भागित्वरूप आश्रित करके वृत्ति मानी जाय तो इससे एकका एकत्व स्थिर नहीं रहता—वह विभक्त होकर बहुरूपमें परिणत हो जाता है। इसके सिवाय यह प्रश्न पैदा होता है कि एककी अनेकमें वह वृत्ति तन्तु आदिके लक्षण आवारके प्रति एकदेशरूपसे होती है या सर्वात्मक रूपसे ? एक देशरूपमें वह नहीं बनती; क्योंकि एक पटादि कार्यद्रव्यके निष्प्रदेश होनेसे तन्तु

आदि अनेक अधिकरणोंमें उसका वर्तना नहीं बनता और प्रत्येकमें सर्वात्मकरूपसे वृत्तिके होने पर एक अवयवी आदिके बहुत्वका प्रसंग उपस्थित होता है—जितने अवयव उतने ही अवयवी ठहरते हैं, जितने संयोगी आदि गुणी उतने ही अनेक अवयवोंमें स्थित संबोधादि गुण ठहरते हैं और जितने सामान्यवाल् अर्थ उतने ही सामन्य होने चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। अतः एकली अनेकमें सर्वात्मक अथवा सर्वदेश वृत्ति माननेसे, आहंतमतसे भिन्न जो सर्वथा एकान्तमत है उसमें दोष बाता है। इस तरह एकली अनेकमें वृत्तिका मानना और न मानना दोनों ही सदोष ठहरते हैं। एकदेशरूप और सर्वात्मक वृत्तिसे भिन्न वृत्तिका अन्य कोई प्रकार नहीं है।'

(यदि वैशेषिकमतकी मान्यतानुसार समवाय-सम्बन्धको प्रकारान्तर माना जाय—यह कहा जाय कि समवाय-सम्बन्धके कारण अवयवी आदि अवयवादिकमें वर्तता है, तिन; समवाय-सम्बन्धके वर्तनके अर्थका अभाव है तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यही भी वही प्रश्न पैदा होता है कि अवयवी आदिकी अवयवादिकमें वह समवायवृत्ति एकदेश है अथवा सर्वात्मक ? और दोनोंमें से किसी भी प्रकारकी समवायवृत्तिको मानने पर वही दोष घटित होता है, जिसे ऊपर बतलाया गया है।)

देश-काल-चिशेषेऽपि स्याद्वृत्तिर्युत-सिद्धवत् ।

समान-देशता न स्यान्मूर्तकारण-कार्ययोः ॥६३॥

(यदि अवयवादि और अवयवी आदिमें सर्वथा भेद स्वीकार किया जाय सो) देश और कालकी अपेक्षासे भी दुन्हमें—अवयवादि और अवयवी आदिमें—भेद मानना पड़ेगा और तब युत-सिद्धके समान—पृथक्-पृथक् आश्रयमें रहने वाले घट-वृक्षकी तरह—उनमें भी वृत्ति (समवाय-सम्बन्धकी वर्तना) माननी होगी।

(युक्तः) मूर्तिक कारण और कार्यमें जो समान (अभिन्न) देशसा—एककाल-देशसा—देशी आती है वह नहीं बन सकेगी ।

व्याख्या—अवयवादि और अवयवी आदिमें सर्वथा मेद मानने पर उनमें देशमेद और कालमेद भी मानना पड़ेगा और उनका सम्बन्ध युत-सिद्धों जैसा होगा; तब उनमें अभिन्नदेशसा कैसे बन सकती है ? यह बास वेशेषिकोंको सोचनेकी है ।

यत्थपि बास्ता और आकाशमें अत्यन्त भ्रेद होने पर भी उनमें न देशभ्रेद है और न कालभ्रेद है और इसलिय यह अत्यन्तभ्रेद कार्य-कारणके देश और कालके भ्रेदका नियामक नहीं है, तथापि सत्, इत्यत्थ वादि रूपसे आत्मा और आकाशमें भी अत्यन्तभ्रेद असिद्ध है । जल एव उनके अभिन्नदेश और अभिन्नकालके होनेमें कोई वाधा नहीं है ।

आथयाऽष्टव्यि-मावान्तं स्वातन्त्र्यं समवायिनाम् ।

इत्ययुक्तः स सम्बन्धो न युक्तः समवायिभिः ॥६४॥

‘यदि ऐसा कहा जाय कि समवायिओंमें—अवयव-अवयवी (तत्त्व-पट) आदिमें—(समवायके द्वारा) आथयाऽष्टव्यीभाव होनेके कारण स्वतन्त्रता नहीं है, जिससे देश व कालकी अपेक्षा भ्रेद होनेपर भी चृति (समवाय-सम्बन्ध-वर्तना) बनती, तो वह कहना ठोक नहीं है । (क्योंकि तब यह प्रश्न उठता है कि वह समवाय समवायिओंमें स्वतः वर्तता-सम्बन्धित होता है या अन्य समवायसे वर्तित-सम्बन्धित होता है । यदि स्वतः सम्बन्धित होता है तो फिर अवयवी भी अपने अवयवोंमें स्वतः सम्बद्ध हो जायगा, उसके लिये एक अलग समवायको व्यर्थ-कल्पनासे क्या, नहींजा ? यदि अन्य समवायसे वह सम्बन्धित होता है तो वह अन्य समवाय भी अन्य तृतीयसे और तृतीय भी अन्य चतुर्थसे सम्बन्धित मानना पड़ेगा और इस तरह अनेक समवायोंको कल्पना

करनेपर एक समवायको मान्यता दीचित छहरेगी और अनवस्था-दोषका प्रसंग भी उपस्थित होगा ।)

(यदि यह कहा जाय कि समवाय बनाश्रित होनेसे सम्बन्धा-न्तरकी अपेक्षा नहीं रहता, किन्तु असम्बद्ध ही रहता है, तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि) जो स्वयं असम्बद्ध (सम्बन्ध रहित) है वह एक (अवयवी) का दूसरे (अवयवों) के साथ सम्बन्ध कैसे करा सकता है ? सम्बन्धरहित होनेकी हालतमें वह दूसरे (द्विव्यादि) के साथ कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता । '

सामान्यं समवायश्चाऽप्येकैकत्र समाप्तिः ।

अन्तरेणाऽऽभ्यं न स्यान्नाशेत्पादिषु को विधिः ॥६५॥

'जिस प्रकार सामान्य आश्रयके बिना वही रहता, उसी प्रकार समवाय भी आश्रयके बिना वही रहता । जब सामान्य और समवाय दोनोंकी प्रत्येक द्विव्यादि नित्य व्यक्तियोंमें समाप्ति—पूर्णता होती है तब नाश हुए तथा उत्पन्न हुए अनिस्प कायोंमें उनके सधूभावकी विधि-व्यवस्था कैसे बन सकती है ?—नहीं बन सकती ।'

अन्यथा—जहाँ एक व्यक्तिका उत्पाद हुआ वही पहलेसे न सामान्य है और न समवाय; क्योंकि उनका वही कोई आश्रय नहीं है और ये दोनों बिना आश्रयके नहीं रहते । अन्यथा अनाश्रित होनेका प्रसंग आयेगा । यह भी सम्भव नहीं कि वे अन्य व्यक्तिसे पूर्णरूपमें या अंशरूपमें आते हैं; क्योंकि पूर्वाखाद-का अभाव तथा सामान्य एवं समवायमें सांशापनेका प्रसंग आवेगा । स्वयं पीछे उनका उत्पाद भी सम्भव नहीं है, अन्यथा वे अनित्य माने जायेंगे । आश्रयके नाश होनेपर भी उनका नाश नहीं होता; क्योंकि वे नित्य हैं और आश्रय यह कि प्रत्येकमें पूर्ण रूपसे रहते हैं । सारांश यह कि सामान्य और समवाय इन दोनों

पदार्थोंका नित्य व्यक्तियोंमें सत्त्व सिद्ध होने पर भी अनित्य व्यक्तियोंमें उनका सद्ग्राव सिद्ध नहीं होता; जबकि वैशेषिक इन दोनोंको नित्य, व्यापक और एक एवं प्रत्येकमें पूर्णरूपसे व्याप्त मानते हैं, जो स्पष्टतः युक्ति और प्रतीतिके विरुद्ध है।

सर्वथाऽन्मिसम्बन्धः सामान्य-समवाययोः ।

ताम्यामर्थो न सम्बद्धस्तानि त्रीणे ख-पुण्यवत् ॥६६॥

(वैशेषिक मतानुसार) जब सामान्य और समवाय दोनोंके सर्वथा अनभिसम्बन्ध है—परस्परमें एकका दूसरेके साथ संयोगादरूप कोई प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं है—जब उन दोनोंके साथ इत्य, गुण और कर्मरूप जो अर्थ हैं उनका भी सम्बन्ध नहीं रहता। (और इसलिये) सामान्य, समवाय तथा अर्थ ये सीनों ही आकाश-पृथ्वीके समान अवस्था ठहरते हैं, क्योंकि असत्त्वां और अवस्थाका कूर्म-रोमादिकी तरह कोई भी स्वरूप नहीं बन सकता।

अनन्यता—एकाम्तकी सरोषता

अनन्यतैकान्तेऽणूनां सघातेऽपि विभागवत् ।

असंहतत्वं स्थायैभूतचतुष्क-भान्तिरेव सा ॥६७॥

'यदि (बौद्ध-मतानुसार) परमाणुओंकी अनन्यताका—सर्व अवस्थाओंमें स्वरूपान्तरपरिणमनरूप अन्यताके अभावका—एकान्त माना जाय तो स्कन्धरूपमें उनके मिलनेपर भी न मिलनेकी भान्तिमें परस्पर असम्बद्धता रहेगी और ऐसा होने पर बौद्धोंके हारा प्रतिपादित जो भूतचतुष्क है—परमाणुओंका पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ऐसे चार स्कन्धोंके रूपमें जो कार्य हैं—वह (वास्तविक न होकर) भान्तिरूप ही ठहरेगा। (यदि भूत-चतुष्टयको भान्तिरूप न माना जायगा तो परमाणुओंका संघातावस्थामें स्वरूपान्तर मानना होगा और वैसा मानने पर सर्वथा अनन्यताका एकान्त नहीं बन सकेगा।)'

कार्यकी भान्तिसे कारणकी ज्ञानित तथा उभयाभावादिक
 कार्य-भान्तेरणु-भान्तिः कार्य-लिङ्गं हि कारणम् ।
 उभयाऽभावतस्तत्स्थं गुण-जातीतरच्च न ॥६८॥

'भूतचतुर्खण्ड-कार्यके भान्तिरूप होनेसे तत्कारण परमाणु भी
 भान्तिरूप ठहरेगे—तब बस्तुतः उनकी अस्तित्व-सिद्धि ही नहीं
 बन सकेगी; क्योंकि कारण कार्य-लिङ्गक होता है—कार्यसे ही उसे
 जाना जाता अथवा अनुमान किया जाता है । कार्य-कारण दोनोंके
 भान्तिरूप अभावसे उनमें रहमेवाले गुण-ज्ञाति-क्रियादिक भी नहीं
 बन सकेंगे—जैसे गगनकुमुखोंके अभावमें उनकी कोई गत्व भी नहीं
 बन सकती ।'

कार्य-कारणादिका एकत्व माननेपर दोष

एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाऽभावोऽविनाभुवः ।
 द्वित्व-संख्या-विरोधश्च संवृत्तिश्चेन्मृष्टैव सा ॥६९॥

'यदि (सांख्यमतानुसार) कार्य-कारणादिका सर्वथा एकत्व
 माना जाय—कार्य जो महत् आदि और कारण जो प्रधान
 दोनोंका सादात्म्य अंगीकार किया जाय—तो एककी मान्यतापर
 दूसरेका अभाव ठहरेगा—प्रधानरूप कारणकी मान्यतापर महत्
 आदिरूप कार्यकी पृथक् कोई मान्यता नहीं बन सकेगी, दोनोंके
 सर्वथा एक होनेसे । साथ ही कार्यके अभावपर शेष जो कारण
 उसका भी अभाव ठहरेगा; क्योंकि कार्यका कारणके साथ
 अविनाभाव-सम्बन्ध है, कारण कार्यकी अपेक्षा रखता है, सर्वथा
 कार्यका अभाव होनेपर कारणत्व बन नहीं सकता और इस तरह
 सर्वके अभावका प्रसंग उपस्थित होता है । इसके सिवाय,
 (यदि यह कहा जाय कि महत् आदि कार्यका प्रधानरूप-कारणमें
 अनुप्रवेश हो जानेसे उत्तरसूटिक्रमकी अपेक्षा पृथक्-सत्तारूप

भेदका अभाव होनेपर भी कारण सो एक रहता हो है—नित्य होनेसे उसका अभाव नहीं होता, तो) दोको संख्याका विरोध उपस्थित होता है—कार्य और कारण सर्वथा एक होनेपर यह कार्य है और यह कारण है ऐसे दोकी संख्याका निर्देश नहीं बन सकता; जैसे कि वस्तुके सर्वथा एक होनेपर उसमें कार्य-कारण-भाव नहीं बनता ।

यदि द्वित्य-संख्याको संबृतिरूप कलिपत अवधा औपचारिक ही माना जाय तो यह संबृति (परमार्थके विपरीत होनेसे) जब मृषा ही है तब द्वित्य-संख्या भी मृषा ही ठहरती है—ऐसी स्थितिमें प्रधानकी जानकारी तब कैसे हो सकेगी ? प्रत्यक्षसे वह ही नहीं सकती; क्योंकि प्रधान प्रत्यक्षका दिवय नहीं । अनुमानसे भी नहीं हो सकती; क्योंकि अभान्त लिङ्गका अभाव है । आगमसे भी नहीं बन सकती; क्योंकि शब्दके भी आन्तत्व माना गया है; और आन्तलिङ्गसे अआन्त साध्यकी सिद्धि होती नहीं, सिद्धि मानने पर अतिप्रसंग-दोष उपस्थित होता है ।'

(इसी प्रकार पुरुष और चेतन्य जो आश्रय-आश्रयीरूप हैं उनकी एकता माननेपर एक दूसरेका अभाव ठहरता है; पुरुषमें चेतन्यके अनुप्रवेशपर पुरुषमात्रका और चेतन्यमें पुरुषके अनुप्रवेश-पर चेतन्यमात्रका प्रसंग उपस्थित होता है और इससे सांख्यमता-नुयायिकोंके यहीं सर्वथा एकत्वकी मान्यतापर पुरुष और चेतन्य इन दोमेंसे किसी एकका अभाव सिद्ध होता है । दोमेंसे एकका अभाव होनेपर शेषका भी अभाव ठहरता है; क्योंकि दोनोंमें परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है । पुरुष आश्रय है और चेतन्य-स्वभाव उसका आश्रयी है—आश्रयके बिना आश्रयीका और आश्रयीके बिना आश्रयका कोई अस्तित्व नहीं बनता । दोनोंके सर्वथा एक होनेपर द्वित्य-संख्या भी नहीं बनती और द्वित्यसंख्यामें संबृतिकी कल्पना करनेपर शून्यताका प्रसंग आता है; क्योंकि

परमार्थतः द्वित्वसंख्याके अभावपर संख्येय जो पुरुष और चैतन्य उनकी भी कोई व्यवस्था नहीं बनती—ऐसी कोई वस्तु ही सम्मव नहीं जो सकलधर्मोंसे शून्य हो । अतः सांख्योंका यह कार्य-कारणादिकी अनन्यताका एकान्त भी वैशेषिकोंके अन्यता एकान्तकी तरहसे नहीं बन सकता ।'

उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोपता

त्रिरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्याय-विद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्ते प्रयुक्तिर्नाभिवाच्यमिति युज्यते ॥७०॥

‘यदि कार्य-कारणादिकों अन्यता और अनन्यताके बीचों एकान्त एक सम्बन्ध माने जाय तो वे स्पाद्वाद-न्यायके चिह्नेविदोंके—सर्वथा अनन्यतावादियोंके—गहीं गुणवत् नहीं बन सकते; क्योंकि उनमें परम्पर विरोध होनेसे उनका एकात्म्य अवश्वा तावात्म्य असंभव है । यदि अवाच्यता (अनभिलाप्यता) का एकान्त माना जाय—कार्य-कारणादिका भेद-अभेद सर्वथा अवाच्य है ऐसा कहा जाय—तो यह कहना भी नहीं बन सकता; क्योंकि इस कहनेसे वह वाच्य (अभिलाप्य) हो जाता है । और जब यह कहना भी नहीं बन सकता तब अवाच्यतैकान्त-सिद्धान्तका परको प्रतिपादन कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता ।

(यदि बीद्धोंके द्वारा यह कहा जाय कि परमार्थसे तो वचन-द्वारा किसी भी गदार्थ अवश्वा सिद्धान्तका प्रतिपादन नहीं बनता—संवृतिके द्वारा ही बनता है, तो संवृतिके स्वयं मिथ्या होनेसे उसके द्वारा सत्यसिद्धान्तादिका प्रतिपादन कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता । अतः संवृतिरूप-वचनके द्वारा प्रतिपादन करनेपर भी अवाच्यताका एकान्त स्थिर नहीं रह सकता ।)

एकता और अनंकताकी निर्दोष व्यवस्था

द्रव्य-पर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः ।

परिणाम-विशेषाच्च शक्तिमच्छक्ति-भावतः ॥७१॥

संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षण-विशेषतः ।

प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्मं न सर्वथा ॥७२॥

'द्रव्य और पर्याय दोनों (कथंचित्) एक हैं: क्योंकि इनके (प्रतिभासका भेद होनेपर भी) अव्यतिरेकपना है—अशक्य-विवेचन होनेसे सर्वथा भिन्नताका अभाव है । तथा द्रव्य और पर्याय (कथंचित्) नानारूप हैं—एक दूसरेसे भिन्न है; क्योंकि दोनोंमें परिणाम-परिणामोक्ता भेद है, शक्तिमान-शक्तिभावका भेद है, संज्ञा (नाम) का भेद है, संख्याका भेद है, स्वलक्षणका भेद है और प्रयोजनका तथा आविश्वदसे काल एवं प्रतिभासका भेद है । इससे द्रव्य और पर्याय दोनों सर्वथा एकरूप नहीं और न सर्वथा नानारूप ही हैं—दोनोंमें कथंचित् भेदाऽभेदरूप अनेकान्तत्व प्रतिष्ठित है ।'

व्याख्या—यहाँ 'द्रव्य' शब्दसे गुणी, सामान्य तथा उपादान-कारणका और 'पर्याय' शब्दसे गुण, व्यक्ति-विशेष तथा कार्य-द्रव्यका ग्रहण है । 'अव्यतिरेक' शब्द अशक्य-विवेचनका वाचक है, जिसका अभिप्राय यह है कि एक द्रव्यको अन्य द्रव्यरूप तथा एक द्रव्यकी पर्यायको अन्य द्रव्यकी पर्यायरूप नहीं किया जा सकता वथवा विवक्षित द्रव्यको उसकी पर्यायसे और विवक्षित पर्यायको उसके द्रव्यसे सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता । इस संरह द्रव्य और पर्याय दोनों एक वस्तु हैं; जैसे वेद और वेदकका ज्ञान, जिसे प्रतिभासका भेद होनेपर भी सर्वथा भेदरूप नहीं किया जा सकता ।

यदि अहोद्वैतवादियोंकी मान्यतानुसार पर्यायको अवास्तव और द्रव्यको वास्तव बतलाकर पर्यायका तथा बौद्धोंकी मान्यता-

नुसार द्रव्यको अवास्तव और पर्यायिको वास्तव बतलाकर द्रव्यका अभाव माना जाय तो द्रव्य-पर्याय दोनोंमेंसे किसीका भी सद्भाव नहीं बन सकेगा—अर्थक्रिया-लक्षण-वस्तुमें पदार्थकी लब कोई उपस्थिति अथवा व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी; क्योंकि पर्याय-निरपेक्ष केवल द्रव्य और द्रव्यनिरपेक्ष केवल पर्याय अर्थ-क्रियाका निमित्त नहीं होता, निमित्त माननेपर क्रम-योगपद्धका विरोध उपस्थित होगा— सर्वथा एकस्वभावरूप द्रव्य या पर्यायके क्रम-योगपद्ध घटित नहीं होता, क्रम-योगपद्धके घटित न होनेपर अर्थ-क्रिया नहीं बनती और अर्थ-क्रियाके न बननेपर वस्तुका अस्तित्व न रहकर अभाव ठहरता है। अतः द्रव्य और पर्याय दोनोंमेंसे किसीका भी लोप करनेपर दूसरेका भी लोप उपस्थित होता है और वस्तुतत्त्वकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी ।

द्रव्यका लक्षण गुण-पर्यायवान् है; जैसा कि 'गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्' इस तत्त्वार्थसूत्रसे जाना जाता है, जिसमें गुण सहभावी (युगपत्) और पर्याय क्रमभावी होते हैं। पर्यायिका लक्षण 'तदभावः परिणामः' सूत्रके अनुसार तदभाव—उस प्रतिविशिष्टरूपसे होना—है, जो कि क्रमांकमरूपमें होता है। क्रमशः परिणमनको 'पर्याय' और अक्रम (युगपत्) परिणमनको 'गुण' कहते हैं। द्रव्य और पर्याय दोनोंकी यह लक्षण-भिन्नता दोनोंके कथचित् नानाप्रकारसे घटित करती है ।

इस तरह द्रव्य और पर्यायमें कथचित् एकपना ही है, स्व-लक्षणके भेदसे; कथचित् नाना पना ही है, अशक्य-विदेशनके कारण; कथचित् उभयपना ही है, दोनोंकी क्रमांकित-विवरणसे; कथचित् अवक्षयपना है, दोनोंके सहार्पणकी दृष्टिसे । शेष तीन भंगोंको भी इसी प्रकारसे घटित कर लेना चाहिये ।

इति देवागममात्र-मीमांसायां चतुर्थः परिच्छेदः ।

पंचम परिच्छेद

सिद्धिके आपेक्षिक-अनापेक्षिक एकान्तोंकी सदोषता

यावापेक्षिप्त-सिद्धि स्यान्म इव व्यवहृत्युत्तमे ।

अनापेक्षिक-सिद्धी च न सामान्य-विशेषता ॥७३॥

‘यदि सिद्धिको—धर्म-धर्मी, कार्य-कारणादिरूप पदार्थोंकी सिद्धि-निश्चितिको—(एकान्ततः) आपेक्षिकी—सर्वथा एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाली—आना जाय तो आपेक्षण और आपेक्षिक दोनोंमेंसे किसीको भी अवस्थिति नहीं बनती—किसी भी एकका निश्चय न होकर दोनोंका अभाव ठहरता है । और सिद्धिको (सर्वथा) अनापेक्षिकी—किसीकी भी अपेक्षा न रखनेवाली—आनन्देष्टर सामान्य-विशेषभाव नहीं बनता—क्योंकि अन्यथा अथवा अमेदरूप जो सामान्य और व्यतिरेक वशवा भेदरूप जो विशेष दोनों अन्योन्याओंके हैं—उनकी सिद्धि एक दूसरेकी अपेक्षाको लिए हुए हैं, पारस्परिक अपेक्षाके बिना व्यवस्थित नहीं होते अर्थात् अमेद बिना मेदके और मेद बिना अमेदके व्यवहृत नहीं बनता है ।’

व्याख्या—(हस कारिकाके पूर्वार्थमें बीदोंकी मान्यता और उसकी सदोषताका, तथा उत्तरार्द्धमें योगोंको मान्यता और उसकी सदोषताका उल्लेख है । बीदोंकी यह मान्यता है कि निविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञानमें दूर-निकटादिकी तरह धर्म-धर्मी आदि किसीका भी प्रतिभ्रास नहीं होता, तत्पृष्ठ-भावों विकल्प-बुद्धिके द्वारा विशेषण-विशेष्यत्व, सामान्य-विशेषत्व, गुण-गुणित्व, क्रिया-क्रियावत्त्व, कार्य-कारणत्व, साध्य-साधनत्व, प्राण्य-नाहकत्व ये सब मेद उप-कल्पित हैं और हसलिये पारमार्थिक न होकर सर्वका आपेक्षिक

है—वस्तुतः इनमें कोई भी व्यवस्थित नहीं होता। इह दार्हनी आपेक्षिकी सिद्धि माननेपर नील-स्वलक्षण और नीलज्ञान ये दोनों भी व्यवस्थित नहीं होते; क्योंकि दोनों विशेषण-विशेषयकी तरह आपेक्षिक हैं। जिनकी सर्वथा आपेक्षिक-सिद्धि होती है उनकी कोई व्यवस्था नहीं है, जैसे परस्पर एक दूसरेको पकड़े हुए नदीमें हूबनेवाले दो मनुष्योंकी कोई व्यवस्था नहीं बनती—(दोनों ही डूबते हैं।) वैसे ही नील और नील-ज्ञानमें सर्वथा अपेक्षाकृत-सिद्धिकी बात है—नीलभान्तके बिना नील सिद्ध नहीं होता, अज्ञेयत्वका प्रसंग आनेसे और तथा-संवेदन-निष्ठ होनेसे, और नीलकी अपेक्षाके बिना नीलज्ञान सिद्ध नहीं होता; क्योंकि नील-ज्ञानके नीलसे आत्मलाभ बनता है, अन्यथा नीलज्ञानके निष्पय-यश्वका प्रसंग आता है और बोझोंने ज्ञानको निर्विषय भाना नहीं। इस तरह एकके अभावमें दूसरेका भी अभाव होनेसे नील और नीलज्ञान दोनोंका ही अभाव रहता है। जब ज्ञान और प्रेय दोनों ही न रहे तब सर्व-शून्यताका प्रसंग उपस्थित होता है।

आपेक्षिक-सिद्धिके एकान्तमें दोष देखकर यदि योग-भतवादी यह कहे कि 'धर्म-धर्मीको सर्वथा आपेक्षिक-सिद्धि नहीं किन्तु बनापेक्षिक-सिद्धि है; क्योंकि धर्म-धर्मीके प्रतिनियत-बुद्धिका विषय-पना है, नोलादिके स्वरूपकी तरह। सर्वथा अनापेक्षिकत्वका अभाव होनेपर प्रतिनियत-बुद्धिका विषयपना नहीं बनता, तो मह कहना स्वेच्छक नहीं है; क्योंकि सर्वथा अनपेक्षा-पक्षमें भी अन्वय-व्यतिरेक घटित नहीं होते। अन्वय सामान्यको और व्यतिरेक विशेषको कहते हैं, दोनों परस्पर अपेक्षाके रूपमें ही तिष्ठते हैं, दोनोंकी सर्वथा अनापेक्षिक-सिद्धि माननेपर न सामान्य स्थिर रहता है और न विशेष। प्रतिनियतबुद्धि-विषयोंमें भी प्रतिनियत-पदार्थता सापेक्षरूपमें होती है, नील-पीतकी तरह। नील और पीतको अनापेक्षिक-सिद्धि माननेपर यह नील है, यह पीत है ऐसा निश्चय नहीं बनता।

उक्त उमय तथा अवस्थाय एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्तोभयैकात्म्यं स्याद्ब्राद-न्यायर्वद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिनाऽवाच्यमिति युज्यते ॥७४॥

‘यदि आपेक्षिक-सिद्धि और अनापेक्षिक-सिद्धि दोनोंका एकान्त माना जाय तो वह स्याद्ब्रादन्यायसे द्वेष रखनेवालोंके—उस न्याय-का आश्रय न लेनेवाले सर्वथा एकान्तवादियोंके—यहीं नहीं बनता; क्योंकि दोनों एकान्तोंमें परस्पर विरोध है—उनकी युगपत् विवक्षा सदसत् (भावाऽभाव) एकान्तकी तरह नहीं बनती। यदि (विरोधके भयादिसे) अवाच्यताका एकान्त माना जाय—सिद्धिको सर्वथा अवाच्य कहा जाय—तो यह अवाच्य कहना भी नहीं बनता; क्योंकि इस कथनमें ही वह कथंचित् शाश्य हो जाता है, और उससे सर्वथा अवाच्यताका सिद्धान्त बाधित छहरता है।’

उक्त आपेक्षिकादि एकान्तोंकी निर्दीश-बदलस्था

धर्म-धर्म्यविनाभावः सिद्धयत्यन्योऽन्य-वीक्षया ।

न स्वरूपं स्वतो देतत् कारक-शापकाऽन्तर्वत् ॥७५॥

‘धर्म और धर्मीका अविनाभाव-सम्बन्ध ही एक दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध होता है न कि स्वरूप—स्वरूप तो अपने कारण-कलापसे धर्म-धर्मीकी विवक्षासे भूर्व ही सिद्धत्वको प्राप्त है; क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है, कारक और ज्ञापकके अङ्गोंकी तरह—जैसे कारकके दो अंग (अवयव) कर्ता-कर्म और ज्ञापकके दो अंग बोध्य-बोधक (वेद्य-वेदक अथवा प्रमेय-प्रमाण) ये अपने अपने स्वरूप-विषयमें दूसरे अंगकी (कर्ता कर्मकी और कर्म कर्ताकी बोध्य-बोधककी, बोधक बोध्यकी) अपेक्षा नहीं रखते—अस्यथा—अपेक्षा-द्वारा एकके स्वरूपको दूसरेके आश्रित माननेपर दोनोंके ही अभावका प्रसंग उपस्थित होता है। परन्तु कर्ता-कर्मका और ज्ञाप्य-ज्ञापकका व्यवहार परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षाके बिना

नहीं बनता—व्यवहारके लिये पारस्परिक अपेक्षा आवश्यक है— स्वरूपके लिये नहीं।'

इस तरह धर्म-धर्मभूत सकल पदार्थोंकी कथचित् आपेक्षिकी सिद्धि है—अविनाभावरूप व्यवहारकी हृष्टिसे; कथचित् अनापेक्षिकी सिद्धि है—पूर्व प्रसिद्ध स्वरूपकी हृष्टिसे; कथचित् उभयी सिद्धि है—अपेक्षा-अनपेक्षारूप दोनों धर्मोंके क्रमापितकी हृष्टिसे; कथचित् अवक्षव्या सिद्धि है—उक्त दोनों धर्मोंके सद्गापित (युग-पत्रकथन) की हृष्टिसे । शेष 'आपेक्षिकी' और 'अवक्षव्या' आदि भंगोंको भी इसी प्रकार घटित करके यहाँ भी सप्तभंगी प्रक्रियाकी योजना कर लेनी चाहिये, जो कि नयविशेषकी हृष्टिसे पूर्ववत् अविरुद्ध है ।

इति देवानगरात्मकमासादा । पर्यन्तः परिच्छेदः ।

षष्ठ परिच्छेद

सर्वथा हेतुसिद्ध तथा आगमसिद्ध एकान्तोंकी सदोषता

सिद्धं चेद्वेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः ।

सिद्धं चेद्वागमात्सर्वं विरुद्धार्थ-मतान्यपि ॥७६॥

'पर्वि (केवल अनुमानवादी बीद्वोंके मतानुसार) सब कुछ (एकान्ततः) हेतुसे ही सिद्ध माना जाय—हेतुके बिना किसी भी कार्य-कारणादिरूप तत्त्वकी सिद्धि-निश्चितिको अंगीकार न किया जाय—तो प्रत्यक्षादिसे किर कोई गति—सिद्धि, व्यवस्थिति अथवा ज्ञानकी प्राप्ति—नहीं बन सकेगी (और ऐसा होनेपर हेतुमूलक अनुमानज्ञान भी नहीं बन सकेगा; क्योंकि अनुमानके लिये धर्मोंका,

साधनका तथा उदाहरणका प्रत्यक्षान्तर होना आवश्यक है, अर्भी आदिके प्रत्यक्षान्तरके बिना कोई अनुमान प्रदर्शित नहीं होता। अनुमान-ज्ञानके लिये अनुमानान्तरकी कल्पना करनेसे अनवस्थादोष उपस्थित होता है और कहीं कोई भी अनुमान नहीं बन पाता। और तब फिर परार्थानुमानरूप ज्ञास्त्रोगदेशका श्री कोई प्रयोजन नहीं रहता—वह व्यर्थ छहरता है; क्योंकि अभ्यस्तविषयमें भी यदि प्रत्यक्षसे सिद्धि नहीं मानी जायगी, तो फिर शब्द तथा लिङ्ग (हेतु) का भी ज्ञान नहीं बन सकेगा; और इस तरह स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान दोनों ही नहीं बन सकेंगे।)

यदि आगमसे ही सर्वतत्त्व-समूहको सिद्धि मानी जाय तो ये परस्पर विरुद्ध अर्थका प्रतिवादन करनेवाले (युक्ति-निरपेक्ष) भल भी सिद्धिको प्राप्त होंगे—क्योंकि आगममात्रकी हितिसे दोनोंके आगमोंमें कोई विशेष नहीं है और तत्त्वप्ररूपण एकका दूसरेके विरुद्ध है, दोनोंको आगमकी हितिसे सिद्ध अथवा निश्चितरूपासे ठीक माननेपर विरुद्धार्थके भी तत्त्वरूपसे सिद्धिका प्रशंग उपस्थित होगा और तब किसी तत्त्वकी भी कोई यथार्थ व्यवस्था नहीं बन सकेगी और न लोक-ज्यवहार ही सुषठित हो सकेगा।

उक्त उभय तथा अवकल्प एकान्तोंकी सदौषता।

विरोधान्तोभर्यकात्म्यं स्याद्वादन्याय-विद्विषाम् ।

अवान्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽद्वाच्यमिति युज्यते ॥७७॥

‘हेतु और आगम दोनों एकान्तोंका यदि एकात्म्य माना जाय तो वह भी नहीं बन सकेगा; क्योंकि दोनोंमें परस्पर विरोध है—सर्वथा विरुद्ध वो सिद्धान्तोंका एकत्र अवस्थान उनके सर्वथा असम्भव है जो स्याद्वादन्यायसे हैष रखते हैं—और कथंचित् रूपसे हेतु तथा आगमकी मान्यताको स्वीकार नहीं करते। यदि (हेतु तथा आगम दोनों एकान्तों-द्वारा तत्त्वसिद्धिमें विरोध-दोष

देखकर) अवाच्यताका एकान्त माना जाय तो तस्वसिद्धि निश्चय-
से 'अवाच्य' है ऐसा कहना भी नहीं बन सकेगा—ऐसा कहनेसे ही
वह वाच्य हो जानेके कारण स्ववचन-विरोधका प्रसंग उपस्थित
होता है ।'

हेतु तथा आगमसे निर्दोषसिद्धिकी दृष्टि

वक्तर्यनाप्ते यद्येतोः साध्यं तद्देतु-साधितम् ।

आप्ते यप्तस्त्रि तद्वाच्यतात्साध्यसागम-साधितम् ॥७८॥

'वक्ताके आप्त न होनेपर जो (तत्त्व) हेतुसे साध्य होता है
वह हेतु-साधित (युक्तिसिद्ध) कहा जाता है और वक्ताके आप
होनेपर जो तस्व उस आपके वाक्यसे साध्य होता है उसे आगम-
साधित (शास्त्रसिद्ध) समझना चाहिये ।'

श्वाल्पा—यहीं आप्त और अनाप्तके स्वरूपको मुख्यतासे
ध्यानमें लेनेकी जरूरत है । आप्तका स्वरूप इस ग्रन्थके प्रारम्भकी
कुछ कारिकाओंमें विस्तारके साथ बतलाया जा चुका है, जिसका
फलित-रूप इतना ही है कि जो वीतराग तथा सर्वज्ञ होनेसे युक्ति-
शास्त्रके अविरोधरूप यथार्थ वस्तुतस्वका प्रतिपादक एवं अविसंबोधक है वह आप्त है और जो आप्तके इस स्वरूपसे भिन्न
अथवा विपरीतरूपको लिये हुए विसंबोधक है वह आप्त नहीं—
अभाप्त है । तत्त्वके प्रतिपादनका नाम अविसंबोध है, जो सम्यग्ज्ञान
से बनता है । जो तत्त्वका—यथार्थ वस्तुतत्त्वका—प्रतिपादन
करता है वह अविसंबोधक है और इसलिये उसका ज्ञान सम्यक्ज्ञान
होना चाहिए, जो कि अवाधित-व्यवसायरूप होता है और जिसके
प्रत्यक्ष (साक्षात्) तथा परोक्ष (वसाक्षात्) ऐसे हो भेद हैं ।
संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनों अज्ञानोंका नाश इस
सम्यग्ज्ञानका फल है । ऐसी स्थितिमें उक्त-लक्षण-आप्तका वचन

सिद्ध होनेपर आगमसिद्ध उसीप्रकारसे प्रमाण होता है जिस प्रकार कि हेतुसिद्ध ।

इति देवागमाप्त-मीमांसायां वज्ञः परिच्छेदः ।

सप्तम परिच्छेद

अन्तरंगार्थता-एकान्तकी बोड्डमान्यता सदोग

अन्तरंगार्थतीकान्ते बुद्धि-वाक्यं मृषाऽखिलम् ।

प्रमाणाभासमेवातस्तत् प्रमाणादुते कथम् ॥७९॥

‘यदि (विज्ञानाद्वैतवादी बोढ़ोंके मतानुसार) अन्तरंगार्थता-का एकान्त भाना जाय—अन्तरंग जो स्वसंविदित ज्ञान उसीके वस्तुता स्वीकार की जाय और बहिरंग जो प्रतिभासके अयोग्य जड़ है उसके वस्तुता न मानी जाय—तो बुद्धिरूप अनुमान और वाक्यरूप आगम सब मिथ्या छहरते हैं । जब मिथ्या छहरते हैं तब वे प्रमाणाभास ही हुए; क्योंकि प्रमाण सत्यमें और प्रमाणाभास मिथ्या(मृषा)से व्याप्त होता है । और प्रमाणाभासका व्यवहार दिना प्रमाणका अस्तित्व अज्ञीकार किये कैसे बन सकता है?—नहीं बन सकता । अतः अन्तरंगार्थताके एकान्तकी मान्यता दूषित है । उसे अनुमानादि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया जा सकता; और जब सिद्ध नहीं किया जा सकता तो दूसरोंको उसकी प्रतीति भी नहीं कराई जा सकती ।’

(जो ग्राह्य-ग्राहकाररूप है वह सब भ्रान्त है, ऐसी संवेदनाद्वैतकी मान्यतासे संवेदनाद्वैत भी भ्रान्त छहरता है; क्योंकि स्वरूपका ज्ञान भी वेद्य-वेदक-लक्षणका अभाव होनेपर वृट्टि

नहीं होता । सबके आन्त होनेपर साध्य-साधनका ज्ञान भी सम्भव नहीं हो सकता । उसके सत्यरूपमें सम्भव होनेपर सर्वविज्ञमकी सिद्धि नहीं बनती ।)

विज्ञप्ति-मात्रताके एकान्तमें साध्य-साधनादि नहीं बनते
साध्य-साधन-विज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्ति-मात्रता ।
न साध्यं न च हेतुरच ग्रतिज्ञा-हेतु-दोषतः ॥८०॥

‘यदि साध्य और साधन (हेतु) की विज्ञप्ति (ज्ञान) के विज्ञप्तिमात्रता मानी जाय—ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं ऐसा कहा जाय—तो साध्य, हेतु और द्वितीय अकारसे दृष्टान्त ये तीनों नहीं बनते; क्योंकि ऐसा कहनेमें प्रतिज्ञानोष और हेतुवोष उपस्थित होता है—प्रतिज्ञासे स्ववचन-विरोध आता है और हेतु-प्रयोग असिद्धादि दोषोंसे दूषित छहरता है ।’

व्याख्या—साध्य-युक्त पक्षके वचनको ‘प्रतिज्ञा’ और साधनके वचनको ‘हेतु’ कहते हैं । संवेदाद्वैतवादी (बौद्ध) अपने संवेदनाद्वैत-तत्त्वको सिद्ध करनेके लिये कहते हैं कि नीला पदार्थ और नीले-का ज्ञान ये अमेद रूप हैं; क्योंकि इनकी एक साथ उपलब्धिका नियम है (सहोपलभ्य-नियमात्) । जैसे नेत्रविकारीके दो चन्द्रमा-का दर्शन होते हुए भी चन्द्रमा वास्तवमें एक ही है वैसे ही नीला पदार्थ और नीलज्ञान दो न होकर ज्ञानाद्वैतरूप एक ही वस्तु है । इस कथनमें प्रतिज्ञा-दोष जो घटित होता है वह स्ववचन-विरोध है; क्योंकि अपने द्वारा कहे हुए नीला-पदार्थरूप धर्म-धर्मकि भेदका और हेतु तथा दृष्टान्त दोनोंके भेदका अद्वैतके साथ विरोध है । सर्वथा अद्वैत-एकान्तकी मान्यतामें इनका कहना नहीं यन्ता और इसलिये साध्य-साधनादिके भेदरूप ज्ञानके अमेदरूप विज्ञान-द्वैतताका कथन करनेवालोंके स्ववचन-विरोधरूप प्रतिज्ञा-दोष सुघटित होता है ।

हेतु-दोष यह घटित होता है कि उक्त हेतु नील और नील-ज्ञानकी पृथक् उपलब्धिके अभावसे नील और नीलज्ञान-भेदके अभावको सिद्ध करता है, जो कि असिद्ध है; क्योंकि दोनों अभावोंमें परस्पर सम्बन्ध सिद्ध नहीं है—सम्बन्धका अभाव उसी प्रकार है जिस प्रकार कि गच्छे और सीममें सम्बन्धका अभाव है। जो हेतु साध्यके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध न रखता हो वह साध्यको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं होता और इसलिये असिद्धहेतु कहलाता है।

यदि यह कहा जाए कि ‘जिस प्रकार नगिनके अभावसे धूम-का अभाव और व्यापक (वृक्ष) के अभावसे व्याप्य (शोशम)-का अभाव सिद्ध किया जाता है; उसी प्रकार नील और नील-ज्ञानकी पृथक् उपलब्धिके अभावसे दोनोंके भेदका अभाव सिद्ध किया जाता है, इसलिये हमारा हेतु असिद्ध नहीं है’ तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि धूम और अग्निका कार्य-कारणभाव-सम्बन्ध सिद्ध होनेपर ही कारणके अभावमें कार्यका अभाव सिद्ध होता है तथा शोशम और वृक्षके व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध होनेपर ही व्यापकके अभावमें व्याप्यका अभाव सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं—अर्थात् कार्य-कारणका और व्याप्य-व्यापकका यदि पहलेसे अस्तित्व सिद्ध नहीं है तो कारणके अभावमें कार्यका और व्यापकके अभावमें व्याप्यका अभाव सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार भेद और पृथक् उपलब्धिका सम्बन्ध चूँकि विज्ञानादेशवादियोंके विरोधदोषके कारण सिद्ध नहीं बनता; जिससे पृथक् उपलब्धिका अभाव (सहोपलभ-नियमरूप) हेतु भेदाभावको सिद्ध करे इसलिये उसका उक्त पृथक् उपलब्धिका अभावरूप हेतु निश्चित नहीं—असिद्ध है।

वहिरंगार्थता—उक्तान्तकी सदोषता
वहिरकार्थतैकान्ते प्रमाणाभास-निह्वात् ।
सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाभिषायिनाम् ॥८१॥

‘यदि बहिरंगार्थताका एकान्त माना जाय—ज्ञानको कोई परमार्थ वस्तु न मानकर बाह्य पदार्थको ही वस्तु माना जाय—तो इससे प्रमाणभासका—संशयादिरूप मिथ्याज्ञानका—लोप होता है; और प्रमाणभासके लोपसे सभी विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेयत्तेपि कार्यसिद्धि ठहरणी—संविद्या इत्यत्तदादी, शत्रुऽहेतवादी आदि किसी भी एकान्तवादी अथवा प्रत्यक्षादिके सर्वथा विरुद्ध कथन करतेवालोंको तब मिथ्याहृष्टि या असत्यवादी नहीं कहा जा सकेगा, यह दोष आएगा।’

उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी मदोच्चता

विरोधान्तोभयैकात्म्यं स्थाद्वाद्-न्याय-विद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाड्याच्यमिति युज्यते ॥८२॥

‘अन्तरंग और बहिरंग जीवरूप दोनों एकान्तोंका एकात्म्य (सहाऽस्युपगम) स्थाद्वाद्-न्यायके विवेचितोंके विरुद्ध है और इसलिये उनके उभय-एकान्तका सिद्धान्त नहीं बनता। अन्तरंगार्थ और बहिरंगार्थ दोनों एकान्तोंकी अवाच्यताका एकान्त माननेपर ‘अवाच्य है’ यह उक्ति भी नहीं बनती—अवाच्यतैकान्तके विरुद्ध फड़ती है।’

उक्त दोनों एकान्तोंमें अपेक्षा-भेदसे सामंजस्य

भाव-प्रमेयाऽपेक्षायां प्रमाणा भास-निहृवः ।

वहिःप्रमेयाऽपेक्षायां प्रमाणं नन्निभं च ते ॥८३॥

‘(हे अर्हन् भगवन् !) आपके मतमें भावप्रमेयकी अपेक्षा—स्वसंवेदन-प्रमाणके द्वारा सब कुछ प्रत्यक्ष होनेपर—और बाह्य-प्रमेयकी अपेक्षा—इन्द्रियज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष होनेपर—प्रमाण तथा प्रमाणभास दोनों बनते हैं—जहाँ विसंवाद होता है अथवा बाधा आती है वहाँ प्रमाणभास बनता है और जहाँ विसंवाद न होकर

निवारिता होती है वहीं प्रमाण बनता है। इस तरह प्रमाण-अप्रमाणकी व्यवस्थारूपसे कोई विरोध नहीं आता; क्योंकि एक ही जीवके आवरणके अभावविशेषके कारण सत्य-असत्य-प्रतिभासरूप संबोदन-परिणामकी सिद्धि उसी प्रकार बनती है जिस प्रकार कि किट्ट-कालिमाके अभावविशेषके कारण सुवर्णका उत्कृष्ट-अवश्य परिणाम बनता है।'

यदि कोई कहे कि जीव कोई वस्तु ही नहीं है तो यह कहना नहीं बन सकता; क्योंकि जीवके प्राहृक (अस्तित्व-सूचक) प्रमाण-का सद्भाव है, उसीको बगली कारिकामें बतलाया जाता है।

जीव शब्द संज्ञा होनेमें सद्बाध्यार्थ है
जीव-शब्दः सद्बाध्यार्थः संज्ञात्वाद्देतु-शब्दशत् ।
॥यादि-आन्ति-संज्ञाश्च मायादीः स्वैः प्रयोक्तिष्वत् ॥८॥

जीव-शब्द बाह्यार्थ-सहित है—बाहुमें जीवशब्दका बाह्य अर्थ स्वरूप-लक्षण-विशिष्ट जीव-वस्तु है—क्योंकि यह शब्द संज्ञा (नाम) है, जो शब्द संज्ञा या नामरूप होता है वह बाह्य वर्णके बिना नहीं होता, जैसे हेतु-शब्द -- अग्निमान् आदिके अनुमानमें प्रयुक्त हुआ धूम (धुआँ) आदि संज्ञात्मक हेतु-शब्द धुआँ आदि नामधारी बाह्य-पदार्थके अस्तित्वके बिना नहीं होता, सब ही हेतु-वादी हेतु-शब्दको बाह्यार्थ-सहित मानते हैं, अन्यथा हेतु और हेत्वाभासमें कोई भेद नहीं बन सकता।

(यदि यहीं कोई कहे कि माया (इन्द्रजाल) आदि भान्तिकी संज्ञाएँ हैं, जिनका कोई बाह्यार्थ नहीं है अतः संज्ञापना हेतु अनेकान्तिक है—ध्यभिचारी है—उससे जीव-शब्दका बाह्यार्थ होना अनिवार्य (लाजिमी) नहीं ठहरेगा, तो यह कहना ठोक नहीं है क्योंकि) मायावि जो भान्तिकी संज्ञाएँ हैं वे भी प्रमाणोक्तिके समान अपने अर्थको साथमें लिये हुए हैं। जिस प्रकार प्रमाण-वचनका शान-लक्षण बाह्यार्थ है उसी प्रकार मायादि भान्ति-संज्ञाओंका भी

बाह्यार्थं भ्रान्ति-विषयक विशिष्ट-प्रतिपत्ति है—भ्रान्ति-संज्ञाओंका भ्रान्तिरूप अर्थका अभाव माननेपर भ्रान्ति-संज्ञासे भ्रान्ति-प्रतिपत्तिका योग नहीं बन सकेगा और उस योगके न बननेसे प्रमाणत्व-प्रतिपत्तिका प्रसंग उपस्थित होगा । अर्थात् भ्रान्तिको भी सम्यक्-ज्ञान मानना पड़ेगा जो इष्ट तथा अबाधित नहीं । इससे खरविषाण (गधेके सींग), खपुल्य (गगनकुसुम) आदि शब्दोंका भी स्वार्थ-रहित होना बाधित हो जाता है । उनका स्वार्थ अभाव है, उसको न माननेपर खर-विषाणादिके भावका प्रसंग उपस्थित होगा । अतः इन खरविषाणादिके साथ भी उक्त संज्ञात्व-हेतुका व्यभिचार नहीं है ।'

संज्ञात्व-हेतुमें व्यभिचार-बोधका निराकरण

बुद्धि-शब्दार्थ-संज्ञास्तस्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः ।

तुल्या तुद्यादिवेचारत् लक्ष्यस्त्रपतिविविचकाः ॥८६॥

'(यदि कोई मीमांसक-भतानुसारी यह कहे कि अर्थ, शब्द और ज्ञान ये तीनों बराबरकी संज्ञाएँ हैं, जीव-अर्थ जीव-शब्द और जीव-बुद्धि तीनोंकी 'जीव' संज्ञा होनेपर अर्थ पदार्थक जीव-शब्द ही सबाह्यार्थ प्रसिद्ध है—बुद्धि-पदार्थक तथा शब्द-पदार्थक नहीं, ऐसी स्थितिमें संज्ञापना हेतुके विषयमें भी व्यापनेसे व्यभिचार दोष आता है; क्योंकि संज्ञात्व-हेतुको बुद्धि, शब्द और अर्थादिक विशेषणसे रहित सामान्य-रूपसे हेतु कहा गया है, तो ऐसा कहनेवाले भी व्यार्थवादी नहीं हैं; क्योंकि) बुद्धि, शब्द और अर्थ तीनोंकी संज्ञाएँ और बुद्धि-आविसंज्ञा-जनित बुद्धि-आवि-विषयक तीनों बोध भी सर्वत्र स्वव्यतिरिक्त बुद्ध्यादि विषयके प्रतिविम्बक होते हैं—उच्चारित-शब्दसे जो (अव्यभिचरित) निश्चित-बोध होता है वही उसका स्वार्थ है, अन्यथा शब्दके

१. अर्थात् भिषान-प्रत्ययास्तुल्यनामानः इति ।

व्यवहारका विलोप ठहरता है। जैसे अर्थपदार्थक जीव-शब्दसे 'जीवको नहीं मारना चाहिये' इस वाक्यमें जीव अर्थका प्रतिविम्बक बोध उत्पन्न होता है कैसे ही बुद्धिपदार्थक जीव-शब्दसे 'जीव बोध-को प्राप्त होता' है इत्यादि बुद्धिस्वरूप जीव-शब्दसे बुद्धि-अर्थका प्रतिविम्बक बोध होता है और 'जीव' कहा जाता है इस शब्द-पदार्थक जीव-शब्दसे शब्दका प्रतिविम्बक बोध होता है। इस तरह शब्दसे चूँकि तीन प्रकारका बोध उत्पन्न होता है इसलिये बुद्धि आदि तीनों संज्ञाओंमें से प्रत्येकके तीन अर्थ जाने जाते हैं, जिससे संगत्यहेतुमें व्यभिचारदोषके लिये कोई स्थान नहीं रहता।'

संज्ञात्व-हेतुमें विज्ञानाद्वैतवादीकी शंकाका भिरसन
वक्तु-ओह-प्रमातणां बोध-वाक्य-प्रभाः पृथक् ।
आन्ताद्वैत प्रमाभ्रान्तौ वाह्याऽयोऽतादृशेतरौ ॥ ८६ ॥

(यदि कोई विज्ञानाद्वैतवादी—योगाचारमत्तानुयायी बोद्धका पक्ष लेकर यह कहे कि 'आपका संज्ञापना हेतु विज्ञानाद्वैतवादीके प्रति असिद्ध है; क्योंकि संज्ञाका विज्ञानसे पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है, हट्टान्त जो 'हेतु-शब्दवत्' दिया गया है वह भी साधन-विकल है, हेतु-शब्दके तदाकारज्ञानसे भिन्न दूसरे हेतु-शब्दका अभाव है। संज्ञाके अवभासनमें जो ज्ञान प्रवृत्त होता है उस संज्ञाभासज्ञानको हेतु माननेपर अर्थात् यह कहनेपर कि 'जीवशब्द सबाह्यार्थ है' संज्ञाभास (शब्दाकार) ज्ञानके होनेसे तो यह हेतु शब्दाभास (शब्दाकार) स्वप्नज्ञानके साथ व्यभिचारी है, जिसमें शब्दाकारके ज्ञानके होते हुए भी वाह्यार्थका अभाव होता है' तो ऐसी शंका करनेवालोंके समाधानार्थ आचार्यश्री स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—)

'वक्ताका (अभिधेय-विषयक) बोध (जो वाक्यकी प्रवृत्तिमें कारण होता है), ओताका वाक्य (जो उसे अभिधेय-परिज्ञानके

लिये सुननेको मिलता है । और इसात्प्राण उभाण (जो नुने हुए वाक्यके अर्थाविबोधको लेकर वक्ताके अभिधेय-विषयमें पोष्य-अपोग्य अथवा सत्य-असत्यका निर्णय करता है) ये तीनों एक दूसरेसे पृथक् जाने जाते हैं—भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होते हैं—ऐसी स्थितिमें विज्ञानाद्वैतसा वादित ठहरती है, 'संज्ञात्पत्त' हेतुके असिद्धताका दोष नहीं आता और न 'हेतु-शब्दबते' इस घटान्तके साध्य-विकल्पताका प्रसंग ही उपस्थित होता है ।

(इसपर यदि यह कहा जाय कि बाह्य अर्थका अभाव होनेसे वक्ता, श्रोता और प्रमाणा ये तीनों बुद्धि (ज्ञान) से पृथक्-भूत नहीं हैं; वक्तादिके आभास-आकाररूप परिणाम हुई बुद्धिके ही वक्ता आदिका व्यवहार होता है, वाक्यके अवतारका भी बोध (बुद्धि) के बिना कहीं कोई अस्तित्व नहीं बनता और प्रमाण स्वयं बोधरूप है ही । अतः (वक्तादिक्रियके बुद्धिसे पृथग्भूत न होनेके कारण) उक्त हेतुके असिद्धतादि दोष बराबर छटित होता है, तो यह कहना ठौक नहीं है; क्योंकि) रूपादिग्राहक वक्ता तथा श्रोताके व्यतिरिक्त-विज्ञानसन्तान-कलापके और स्वांश (ज्ञान)-मात्रावलम्बी प्रमाणके विभ्रमकी कल्पना किये जानेपर रूपादिकी पूर्णतः असिद्धि होती है और उस असिद्धिसे अन्तर्ज्ञेय जो ज्ञानाद्वैत है उसकी आन्यता विचार पड़ती है—रूपादिकी, अभिधेयकी, ग्राहक वक्ता तथा श्रोताकी विभ्रम-रूप कल्पना किये जानेपर व्यतिरिक्त-विज्ञानका जो सन्तानकलाप है वह स्वांशमात्रग्राही सिद्ध नहीं होता; क्योंकि स्वांशमात्रावलम्बी ज्ञानोंके परस्पर असंचार है—स्वरूपका गमकत्व नहीं बनता—जिससे अभिधान-ज्ञान और अभिधेय-ज्ञानका भेद होने । स्वांश-मात्रावलम्बी ज्ञानको भी यदि विभ्रम रूप माना जावे तो प्रमाणकी सिद्धि नहीं बनती; क्योंकि बौद्धोंके यहीं अभ्रान्त ज्ञानको प्रमाण माना गया है । प्रमाणकी भी विभ्रम-रूपसे कल्पना किये

१. प्रत्यक्षं कल्पनापोष्यमभ्रान्तमिति वचनात् ।

ज्ञानेपर अन्तर्ज्ञेय (ज्ञानद्वैत) ही तत्त्व है। यह सभ्युपगम केरे लिखते नहीं पड़ेगा ? प्रमाणान्तरसे अभ्युपगम माननेपर सभीके अपने इष्टके अभ्युपगमका प्रसंग उपस्थित होगा, उसमें बाषा नहीं दी जा सकेगी। प्रमाणके भ्रान्त होनेपर बाह्यार्थी, ताहश-अताहशों, प्रमेयों, अन्तर्ज्ञेय-बहिर्ज्ञेयों, इष्टाऽनिष्टोंका विवेचन भी आन्त ठहरेगा—स्वशान-ग्राहकी अपेक्षासे अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय दोनों ही बाह्यार्थ हैं और वे ग्राहक-प्रमाणके आन्त होनेसे विभ्रमलप आन्त ही छहरते हैं ऐसी स्थितिमें अन्तर्ज्ञेय (ज्ञानद्वैत) का एकान्त माननेपर हेयोपादेयका विवेक किस आधारपर बन सकता है ? नहीं बन सकता। और यदि प्रमाणको अआन्त माना जाय तो बाह्यार्थको स्वीकार किया जाना चाहिये; क्योंकि बाह्यार्थके अभावमें प्रमाण-प्रमाणभासकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती; जैसा कि अगली कारिकामें स्पष्ट किया गया है ।

बुद्धि तथा शब्दकी प्रमाणता और सत्याजृतकी व्यवस्था
बाह्यार्थके होने न होनेपर निर्भर

बुद्धि-शब्द-प्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नाऽसति ।
सत्याजृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥८७॥

(स्वप्रतिपत्तिके लिये) बुद्धिरूप-ज्ञानकी और (परप्रतिपत्ति-के लिये) शब्दकी प्रमाणता बाह्य-अर्थके (जो कि ग्राहककी अपेक्षासे ज्ञानरूप वा अज्ञानरूप है) होनेपर अवलम्बित है, न होनेपर वह नहीं बनती—तब प्रमाणभासता होती है। इसी प्रकार बाह्य-अर्थके होने न होनेपर बुद्धि और शब्द दोनोंकी (जो कि स्व-पर-पक्ष-साधन-दूषणात्मक होते हैं) सत्य और असत्यकी व्यवस्था पुक्त होती है—बाह्यार्थके होनेपर दोनोंके सत्यकी और न होनेपर असत्यकी व्यवस्था बनती है ।

(ऐसी स्थितिमें बाह्यार्थकी सिद्धि होनेसे 'ज्ञान-धोत्-प्रमाणणा-

बोध-वाद्य-प्रमा: पृथक् इस कारिकामें कहे गये वक्ता, श्रीता, प्रभाता तीनों और इनके बोध-वाद्य-प्रमाण ये तीनों भी सिद्ध होते हैं, और इसलिये जीव-शब्दके बाह्यार्थ-साधनमें दिये गये संज्ञात्व-हेतुके असिद्धता तथा अनैकानितकताका दोष घटित नहीं होता और न 'हेतुशब्दवत्' इस हृष्टान्तके साधनधर्मवेकल्य ही घटित होता है, जिससे जीवकी सिद्धि न होवे—जीवकी सिद्धि उक्त हेतु और हृष्टान्त दोनोंसे होती है। जीवके अर्थको जानकर प्रवृत्ति करने-वालेके संवाद-विसंवादकी सिद्धि सिद्ध होती ही है।)

इति देवाभ्यमाऽन्त-भीमांसायां भूत्वम् परिच्छेदः ।

अष्टम पारेच्छेद

दैवसे सिद्धिके एकान्तकी सदोषता

दैवदेवार्थसिद्धिश्चेदैवं पौरुषतः कथम् ।

दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥८८॥

'यदि (मीमांसकमतानुसार) दैवसे ही अर्थकी—संपूर्णप्रयोजन रूप कार्यकी—सिद्धि मानी जाय तो फिर दैवरूप कार्यकी सिद्धि पौरुषसे—कुगलाङ्कुशल-समाचरण-लक्षण-पुरुषव्यापारसे—कैसे कही जा सकतो है?—नहीं कही जा सकतो; क्योंकि वैसा कहनेसे प्रतिज्ञाको हानि पहुँचती है अर्थात् यह कहना बाधित होता है कि 'सर्व-अर्थकी सिद्धि दैवसे होती है'। यदि पौरुषसे दैवकी सिद्धि न मानकर दैवान्तरसे दैवकी सिद्धि मानी जाय तो फिर मोक्षका अभाव ठहरता है—क्योंकि पूर्वं पूर्वं दैवसे उत्तरोत्तर दैवकी प्रवृत्ति तब समाप्त नहीं हो सकेगी—और मोक्षके अभावसे तत्कारणभूत वौरुष निष्फल हो जाता अथवा अर्थ ठहरता है।'

(यदि यह कहा जाय कि पुरुषार्थसे दैवका क्षय होनेपर मोक्ष-की सिद्धि होती है अतः पुरुषार्थको निष्कल नहीं कहा जा सकता, तो फिर वही प्रतिशा-हानि उपस्थित होती है—पुरुषार्थसे मोक्ष-प्राप्तिको लगाना कर लेना—परं कुछ दैवसे उत्सन्न (उसद्वा) होता है इस प्रकारकी जो प्रतिशा है वह स्थिर नहीं रहती—बाधित ठहरती है । इसपर यदि मीमांसकोंके द्वारा यह कहा जाय कि मोक्ष-कारण-पौरुषके भी दैवकृत होनेसे परंपरासे मोक्ष भी दैवकृत सिद्ध होता है, इसमें प्रतिशा-हानिकी कोई बात नहीं, तो यह कहना ठोक नहीं; क्योंकि तब पौरुषसे ही वैसे दैवका सिद्ध होना ठहरता है, इसलिये दैवका एकान्त स्थिर नहीं रहता । दूसरे, धर्मसे ही अभ्युदय तथा निःश्रेयस-सिद्धिकी जो एकान्त-मान्यता है वह बाधित ठहरती है । और तीसरे, उनके द्वारा मान्य महेश्वरकी सिसूका (सृष्टि रचनेकी इच्छा) के व्यर्थ होनेका प्रसंग उपस्थित होता है—अथात् सृष्टिकी उत्पत्तिके दैवात्मीय होनेसे इस प्रकारके वचनोंका कहना नहीं बनता कि 'यह अज्ञ प्राणी अपनेको सुख-दुःख प्राप्त करनेमें असमर्थ है, ईश्वरकी इच्छासे प्रेरित हुआ ही स्वर्ग या नरकको जाता है' ।)

पौरुषसे सिद्धिके एकान्तर्वाच सद्वारा

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।

पौरुषाद्वेदमोघं स्यात् सर्व-प्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥

'यदि पौरुषसे ही सब कुल सिद्धिका एकान्त माना जाय तो यह प्रश्न पैदा होता है कि पौरुषरूप कार्यको सिद्धि कैसे ? उसे यदि दैवसे कहा जाय—पुण्य-नापरूप दैवी सम्पत्तिके बाधित बतलाया जाय—तो यह कहना उच्च एकान्तको आननेपर कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता; क्योंकि इससे प्रतिशा-हानिका—स्वीकृत एकान्तसिद्धान्तको बाधा पहुँचनेका—प्रसंग उपस्थित होता है तथा उच्च एकान्त स्थिर नहीं रहता । यदि मुद्दि-व्यव-

साधात्मक पौरुष (पुरुषार्थ) की सिद्धिको पौरुषसे ही माया आय तो सब प्राणियोंमें पौरुष अमोघ ठहरेगा—किसीका भी पौरुष तब (बाधक कारणान्तरके न होनेसे) निष्फल नहीं जायगा—परन्तु यह प्रत्यक्षके विरुद्ध है; क्योंकि समान-पुरुषार्थ करनेवालोंके भी एकमात्र पुरुषार्थ सफल और दूरविचार निष्फल होता देखा जाता है, ऐसे इस मान्यतामें व्यभिचार-दोष आता है।

(यदि यह कहा जाय कि पुरुषार्थ दो प्रकारका है—एक सम्यग्ज्ञानपूर्वक और दूसरा मिथ्याज्ञानपूर्वक । मिथ्याज्ञानपूर्वक पुरुषार्थमें व्यभिचार आने अथवा उसके सफल न होनेपर भी सम्यग्ज्ञानपूर्वक जो पुरुषार्थ है वह सफल होता है अतः सच्चा (सम्यग्ज्ञानपूर्वक) पुरुषार्थ सफल ही होता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा कहनेवाले चार्किमतवालोंके हृष्टकारण-सामग्रीके सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थमें भी व्यभिचार-दोष दिखलाई पड़ता है—खेती आदिको सफलताके हृष्टकारणोंका सम्यग्ज्ञान होते हुए भी किसीको तत्पूर्वक खेती आदि करनेपर सफलता नहीं मिलती । और अहृष्टताको प्राप्त (अदृश्य) कारण-कलाप प्रत्यक्षरूपसे सम्यग्ज्ञान अल्पज्ञोंके असम्भव है अतः तत्पूर्वक पुरुषार्थ उनके बनता नहीं । यदि अनुमानादि-प्रमाणान्तरसे उस ज्ञानका सम्भव माना जाय तो इसमें दो विकल्प उत्पन्न होते हैं—एक सो यह कि वह अदृश्य-कारणकलाप कारण-शक्तिका विशेष है अथवा पुण्य-पापका विशेष है । यदि उसे कारण-शक्तिका विशेष कहा जाय सो उस शक्ति-विशेषका सम्यग्ज्ञान होने पर भी तत्पूर्वक पुरुषार्थके व्यभिचार दोष दिखलाई पड़ता है; जैसे क्षीणायुष्म-मनुष्यमें औषधशक्ति-विशेषके सम्यग्ज्ञानपूर्वक भी उस औषधिको पिलाने आदिका जो पुरुषार्थ किया जाता है वह उपयोगी नहीं होता—निष्फल जाता है । इससे सर्व-प्राणियोंमें पुरुषार्थके अमोघत्वकी सिद्धि नहीं बनती । और यदि उस अदृश्यकारण-कलापको पुण्य-पापादिका विशेष माना जाय तो दैवकी सहायतासे

हुए पौरुषसे ही फलकी सिद्धि ठहरी। हघर दैवके सम्पर्कान-पूर्वक उपायसे उपेयकी व्यवस्थिति और उधरें दैवके अपरिज्ञान-पूर्वक भी कदाचित् फलकी उपलब्धि देखनेमें आती है, इससे सम्पर्कान-पूर्वक पुरुषार्थका एकान्त भी ठीक नहीं है।)

चमय तथा अवक्षम्य-एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्वोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्वेऽप्युक्तिर्नाभाच्यमिति युज्यते ॥९०॥

‘स्याद्वादन्यायके विहुषियोंके दैव और पौरुष दोनों एकान्तों-का एकात्म्य नहीं बनता; वर्णोंकि इनमें घश्लपर यिहोप है (इन दोनों एकान्तोंकी) अवाच्यताका एकान्त माननेपर उन्हें अवाच्य कहना भी नहीं बनता है—कहनेसे स्ववक्तव्य-विरोध घटित होता है।

दैव-पुरुषार्थ-एकान्तोंकी निर्दोष-विधि

अपुद्दिपूर्वादिपेशायामिष्टाऽनिष्टं स्वदैवतः ।

त्रुद्धिपूर्वाव्यपेशामिष्टाऽनिष्टं स्वपौरुषात् ॥९१॥

‘जो इष्ट या अनिष्ट अनुकूल वा प्रतिकूल—कायं अपने बुद्धि-व्यापारकी अपेक्षा रखे बिना ही घटित अथवा उपस्थित होता है उसे स्ववेक्षकत समझना चाहिये—वयोंकि उसमें पौरुष गौण और दैव प्रधान हैं। और जो इष्ट या अनिष्ट कायं अपने बुद्धि-व्यापारकी अपेक्षा रखकर घटित अथवा उपस्थित होता है उसे स्वपौरुषकृत समझना चाहिये; वयोंकि उसमें दैव गौण और पौरुष प्रधान है।’

स्थान्या— दैव और पुरुषार्थ दोनोंकी व्यवस्था एक दूसरेकी अपेक्षाको साथमें लिये हुए है, एकके अभावमें दूसरेकी व्यवस्था नहीं बनती। वस्तुतः दोनोंके संयोगसे ही कार्यसिद्धि होती है,

अन्यथा वह नहीं बनती ! अतः दोनोंभेंसे किसीका भी एकान्त ठीक न होकर स्याहाद-नीतिको लिये हुए अनेकान्त-इष्ट ही श्रेयस्कर है—देव-पौरुष-विषयक सारे विवादको शान्त करने-पाए हैं । और इसिये पब बुधि परापूर्वित देवकृत है, अबुद्धिपूर्वकी अपेक्षासे; कथाचित् पौरुषकृत है, बुद्धिपूर्वकी अपेक्षासे; कथाचित् उभयकृत है, कथापित् देव-पौरुष दोनोंको अपेक्षासे; कथाचित् देवकृत और अवक्तव्यरूप है, अबुद्धिपूर्वकी अपेक्षा तथा सहापित् देव-पौरुषकी अपेक्षासे; कथाचित् पौरुषकृत और अवक्तव्यरूप है, बुद्धिपूर्वकी अपेक्षा तथा सहापित्-देव-पौरुषकी अपेक्षासे; कथाचित् उभय और अवक्तव्यरूप है, कथापित्-देव-पौरुष और सहापित्-देव-पौरुषकी अपेक्षासे । इस तरह सप्तभगी प्रक्रिया यही भी पूर्ववत् आननी ।

इति देवागमाऽप्तमीमांसायामष्टमः परिच्छेदः ।

नवम परिच्छेद

परमे दुःख-सुखसे पाप-पुण्यके एकान्तकी सदीषता

(इष्ट-अनिष्टके साधनरूप जो देव है वह दो प्रकारका है— एक पुण्य और दूसरा पाप । यह दोनों प्रकारका देव कैसे उत्पन्न होता है, इस विषयके विवादका प्रदर्शन और निराकरण करते हुए आचार्यमहोदय लिखते हैं :—)

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि ।

अचेतनाऽक्षमायौ च बद्धेयातां निमित्ततः ॥९२॥

‘यदि परमे दुःखोत्पादनसे निविष्ट (एकान्ततः) पापवर्षका होना और सुखोत्पादनसे (एकान्ततः) पुण्यवर्षका होना माना

आय तो अचेतन पवार्थ—कण्टकादिक तथा दुर्घटादिक—और अक्षय-परिणत जीव—बीतराम-अवस्थामें स्थित मुनि आदि—भी दुःख-सुखका निवास होनेसे बन्धको प्राप्त होंगे—उन्हें तब अबन्धक कैसे माना जा सकता है ? (इस पर यदि यह कहा जाय कि उनके दूसरोंको दुःख वा सुख देनेका कोई अभिसंधान या संकल्प नहीं होता इसलिये वे बन्धको प्राप्त नहीं होते, तो फिर परमें दुःख-सुखका उत्पादन निश्चितरूपसे पाप-पुण्यके बन्धका हेतु है ऐसा एकान्त नहीं बन सकता ।)

व्याख्या—जब परमें सुख-दुःखका उत्पादन ही पुण्य-पापका एक मात्र कारण है तो फिर दूध-मलाई तथा विष-कण्टकादिक अचेतन पदार्थ, जो दूसरोंके सुख-दुःखके कारण बनते हैं, पुण्य-पापके बन्धकर्ता क्यों नहीं ? परन्तु इन्हें कोई भी पुण्य-पापके बन्धकर्ता नहीं मानता—काटा पैरमें चुभकर दूसरेको दुःख उत्पन्न करता है, इलने मात्रसे उसे कोई पापी नहीं कहता और न पाप-फलदायक कर्मपरमाणु ही उससे आकर चिपटते अथवा बन्धको प्राप्त होते हैं । इसी तरह दूध-मलाई बहुतोंको आनन्द प्रदान करते हैं; परन्तु उनके इस आनन्दसे दूध-मलाई पुण्यात्मा नहीं कहे जाते और न उनमें पुण्य-फलदायक कर्म-परमाणुओंका ऐसा कोई प्रवेश अथवा संयोग ही होता है जिसका फल उन्हें (दूध-मलाईको) बादको भोगना पड़े । इससे उक्त एकान्त सिद्धान्त स्पष्ट सदोष जान पड़ता है ।

यदि यह कहा जाय कि ‘चेतन ही बन्धके योग्य होते हैं, अचेतन नहीं’, तो फिर कषाय-रहित बीतरागियोंके विषयमें आपत्तिको कैसे टाला जायगा ? वे भी अनेक प्रकारसे दूसरोंके सुख-दुःखके कारण बनते हैं । उदाहरणके तौरपर किसी मुमुक्षुको मुनिदीक्षा देते हैं तो उसके अनेक सम्बन्धियोंको दुःख पहुँचता है । शिष्यों तथा जनताएँको शिक्षा देते हैं तो उससे उन लोगोंकी सुख मिलता है । पूर्ण साक्षात्तीके साथ ईर्याधिष्ठ शोषकर चलते हुए भी

कभी-कभी हृषितपथसे बाहरका कोई जीव अचानक कूदकर पैरन्तले आ जाता है और उनके उस पैरसे दबकर मर जाता है। कायो-सर्गपूर्वक ध्यानावस्थामें स्थित होनेपर भी यदि कोई जीव तेजीमें उड़ा-चला आकर उनके शरोरसे टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीवके मार्गमें बाधक होनेसे वे उसके दुखके कारण बनते हैं। अनेक निर्जितकषाय श्रद्धिधारी वीतरागी साधुओंके शरीरके ल्पश्चमात्रसे अथवा उनके शरीरको स्पर्श की हुई वायुके लगनेसे ही रोगीजन निरोग हो जाते हैं और यथेष्ट सुखका अनुभव करते हैं। ऐसे और भी बहुतसे प्रकार हैं जिनमें वे दूसरोंके सुख-दुखके कारण बनते हैं। यदि दूसरोंके सुख-दुखका निमित्त कारण बननेसे ही आत्मामें पुण्य-पापका आस्तव-बन्ध होता है तो फिर ऐसी हालतमें वे कषाय-रहित साधु कैसे पुण्य-पापके बन्धसे ब्रह्म सकते हैं? यदि वे भी पुण्य-पापके बन्धनमें पड़ते हैं तो फिर निर्बन्ध अथवा मोक्षको कोई व्यवस्था नहीं बन सकती; क्योंकि बन्धका मूलकारण कषाय है। कहा भी है—“कषायमूलं सकलं हि बन्धनम्” “सकषायस्वाज्ञावः कर्मणो योग्यान् पुद्यलानादसे स बन्धः।” और हस्तिये अकषायभाव मोक्षका कारण है। जब अकषायभाव भी बन्धका कारण हो गया तब मोक्षके लिए कोई कारण नहीं रहता। कारणके अभावमें कार्यका अभाव ही जानेसे मोक्षका अभाव ठहरता है। और मोक्ष-के अभावमें बन्धकी भी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि बन्ध और मोक्ष जैसे सप्रतिपक्ष धर्म परस्परमें अविभाज्य-सम्बन्धको लिये होते हैं—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बन नहीं सकता यह बात इससे पूर्व कारिकाकी व्याख्यामें भली प्रकार स्पष्ट की जा चुकी है। जब बन्धकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती तब पुण्य-पापके बन्धकी कषा ही प्रलापमात्र हो जाती है। अतः चेतन-प्राणियोंकी हृषितसे भी पुण्य-पापको उक एकान्त-व्यवस्था सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि उन अकषाय-जीवोंके दूसरों-को सुख-दुःख पहुँचानेका कोई संकल्प या अभिप्राय नहीं होता, उस प्रकारको कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें उनको कोई आसक्ति ही होती है, इसलिये दूसरोंके सुख-दुःखकी उत्पत्ति-में निमित्तकारण होनेसे वे बन्धको प्राप्त नहीं होते; तो फिर 'दूसरोंमें दुःखोत्पादन पापका और सुखोत्पादन पुण्यका हेतु है' यह एकान्त सिद्धान्त कैसे बन सकता है?—अभिप्रायाभावके कारण अन्यत्र भी दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका बन्ध नहीं हो सकेगा; प्रत्युत इसके विरोधी अभिप्रायके कारण दुःखोत्पत्तिसे पुण्यका और सुखोत्पत्तिसे पापका बन्ध भी हो सकेगा। जैसे एक डाक्टर सुख पहुँचानेके अभिप्रायसे पूर्ण सावधानीके साथ फोड़ेका औपरेशन करता है परन्तु फोड़ेको चौरते समय रोगीको कुछ अनिवार्य दुःख भी पहुँचाता है, इस दुःखके पहुँचनेसे डाक्टर-को पापका बन्ध नहीं होगा इतना ही नहीं, बल्कि उसकी दुःख-विरोधिनी भावनाके कारण यह दुःख भी पुण्य-बन्धका कारण होगा। इसी तरह एक मनुष्य कषायभावके वशवर्ती होकर दुःख पहुँचानेके अभिप्रायसे किसी कुबड़ेको लात मारता है, लातके लगते ही अचानक उसका कुबड़ापन भिट जाता है और वह सुख-का अनुभव करने लगता है, कहावत भी है—“कुबड़े गुण लात लग गई” —तो कुबड़ेके इस सुखानुभवसे लात मारनेवालेको पुण्यफलकी प्राप्ति नहीं हो सकती—उसे तो अपनी सुखविरोधिनी भावनाके कारण पाप ही लगेगा। अतः यह एकान्त सिद्धान्त कि 'परमें सुख-दुःखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है' पूर्णतया सदोष है, और इसलिये उसे किसी तरह भी वस्तुतत्त्व नहीं कह सकते।

स्वमें दुःख-सुखसे पुण्य-पापके एकान्ती सदोषता

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।

वीतरागो मुनिर्विद्वास्ताम्या युज्यान्नमित्ततः ॥९३॥

‘यदि अपनेमें दुःखोत्पादनसे पुण्यका और सुखोत्पादनसे पापका बन्ध भ्रुव है—निश्चितरूपसे होता है—ऐसा एकान्त माना जाय, तो फिर वीतराग (कषायरहित) और विद्वान् मुनिजन भी पुण्य-पापसे बंधने चाहिये; क्योंकि ये भी अपने सुख-दुःखकी उत्पत्तिके निमित्तकारण होते हैं।’

ध्याल्या—वीतराग और विद्वान् मुनिके त्रिकाल-योगादिके अनुष्ठान-द्वारा कायकलेशादिरूप दुःखकी और सत्त्वज्ञानजनन्य सन्तोषलक्षणरूप सुखकी उत्पत्ति होती है। जब अपनेमें दुःख-सुखके उत्पादनसे ही पुण्य-पाप बंधता है तो फिर ये अकषाय-जीव पुण्य-पापके बन्धनसे कैसे मुक्त रह सकते हैं? यदि इनके भी पुण्य-पापका भ्रुव बन्ध होता है तो फिर पुण्य-पापके अभावको कभी अवसर नहीं मिल सकता और न कोई मुक्त होनेके योग्य हो सकता है—पुण्य-पापरूप दोनों बन्धोंके अभावके बिना मुक्त होती ही नहीं। और मुक्तिके बिना बन्धनादिकोंकी भी कोई व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती; जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। यदि पुण्य-पापके अभाव बिना भी मुक्ति मानी जायगा तो संसृतिके—संसार अधवा सांसारिक जीवनके—अभावका प्रसंग ही आएगा, जो पुण्य-पापकी व्यवस्था माननेवालोंमेंसे किसीको भी इच्छा नहीं है। ऐसी हालतमें आत्म-सुख-दुःखके द्वारा पाप-पुण्यके बन्धनका यह एकान्त सिद्धान्त भी सदोष है।

यही पर यदि यह कहा जाय कि अपनेमें दुःख-सुखकी उत्पत्ति होने पर भी तत्त्वज्ञानी वीतरागियोंके पुण्य-पापका बन्ध इसलिये ही नहीं होता कि उनके दुःख-सुखके उत्पादनका अभिप्राय नहीं होता, वैसी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें आसक्ति होती है; तो फिर इससे तो अनेकान्त सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है—उक्त एकान्तकी नहीं। अर्थात् यह नतीजा निकलता है कि अभिप्रायको लिये हुए दुःख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका

हेतु है, अभिप्रायविहीन दुःख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु नहीं है।

अतः उक्त दोनों एकान्त सिद्धान्त प्रमाणसे बाधित हैं, इष्टके भी चिरब्रह्म पड़ते हैं और इसलिये ठीक नहीं कहे जा सकते।

उभय तथा अवकृतच्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्तोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्याप-सिद्धिनाम् ।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिनर्जिवाच्यमिति युज्यते ॥९४॥

(पाप-पुण्यके बन्ध-सम्बन्धी प्रस्तुत दोनों एकान्तोंकी अलग मान्यतामें दोष देखकर , यदि दोनों सिद्धान्तोंके एकात्मरूप उभय एकान्तको माना जाय तो वह स्याद्वादन्यापसे द्वेष रखनेवालोंके विरोध-दोषके कारण नहीं बनता । अवाच्यताका एकान्त माननेमें भी 'अवाच्य' है यह कहना युक्त नहीं ठहरता है, क्योंकि 'अवाच्य' शब्दके द्वारा वह 'वाच्य' हो जायगा और तब सर्वथा अवाच्यताका एकान्त नहीं रहेगा ।

पुण्य-पापकी निर्दोष व्यवस्था

विशुद्धि-संकलेशाङ्कं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम् ।

पुण्य-पापास्त्रवी युक्ती न चेद्वर्थस्तवाऽहंतः ॥९५॥

'यदि स्व-परस्थ-अपना अथवा परका-सुख-दुःख विशुद्धि तथा संकलेशका अङ्क है—तत्कारण-कार्य वा स्वभावरूप है—तो वह सुख-दुःख यथाक्रम पुण्य-पापके आश्रय-बन्धका हेतु है और यदि विशुद्धि तथा संकलेश दोनोंमेंसे किसीका भी अङ्क—कारण-कार्य-स्वभावरूप—नहीं होता है तो (हे अहंत भगवन् !) आपके बतमें वह व्यर्थ कहा है—उसका कोई फल नहीं । अस्यथा, पूर्वकारिका (९३) में कहे हुए 'अन्तेनाऽकर्षायो' और 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' पदोंमें जिनका उल्लेख है उनके भी बन्धका प्रसंग उपस्थित होगा ।'

व्याख्या—यही 'संकलेश' का अभिप्राय आर्त-रौद्रध्यानके

परिणामसे है—“आत्म-रौद्र-व्यात्परिणामः संकलेशः” ऐसा अकलंकदेवने ‘अष्टशती’ टोकामें ल्पष्ट लिखा है और थीविद्यानन्दने उसे ‘अष्टसहस्री’ में अपनाया है। ‘संकलेश’ शब्दके साथ प्रतिपक्षरूपसे प्रयुक्त होनेके कारण ‘विशुद्धि’ शब्दका अभिप्राय ‘संकलेशाभाव’ है (“तदभावः विशुद्धिः” इत्यकलंकः)—उस क्षायिकलभ्यणा तथा अविनश्वरी परमशुद्धिका अभिप्राय नहीं है जो निरवशेष-रागादिके अभावरूप होती है, उस विशुद्धिमें तो पुण्य-पाप-बन्धके लिये कोई स्थान नहीं है। और इसलिए विशुद्धिका आशय यहीं आत्मरौद्रध्यानसे रहित शुभपरिणतिका है। वह परिणति धर्मरूपध्यान तथा शुक्लध्यानके स्वभावको लिये हुए होती है। ऐसी परिणतिके होनेपर ही आत्मा स्वात्मामें—स्वस्वरूपमें—स्थितिकी शाप्त होता है, वहे वह किसने ही अंशमें क्यों न हों। इसीसे अकलंकदेवने अपनी व्याख्यामें, इस संकलेशाभावरूप विशुद्धिको “आत्मनः स्वात्मन्यवस्थानम्” रूपसे उल्लिखित किया है और इससे यह नतीजा निकलता है कि उक्त पुण्य-प्रसाधिका विशुद्धि आत्माके विकासमें सहायक होती है। जब कि संकलेशपरिणतिमें आत्माका विकास नहीं बन सकता—वह पाप-प्रसाधिका होनेसे आत्माके अधःपतनका कारण बनती है। इसीलिए पुण्यको प्रशस्त और पापको अप्रशस्त कर्म कहा गया है।

विशुद्धिके कारण, विशुद्धिके कार्य और विशुद्धिके स्वभावको ‘विशुद्धिअंग’ कहते हैं। इसी तरह संकलेशके कारण, संकलेशके कार्य तथा संकलेशके स्वभावको ‘संकलेशाङ्क’ कहते हैं। स्व-परस्य मुख-दुःख यदि विशुद्धिअंगको लिये हुए होता है तो वह पुण्यरूप शुभ-बन्धका और संकलेशाङ्कको लिए हुए होता है तो पापरूप अशुभबन्धका कारण होता है, अन्यथा नहीं। तस्वार्थसूत्रमें, “मिथ्यावश्चनाऽविरतप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः” इस सूत्रके द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूपसे बन्धके जिन कारणोंका निर्देश किया है वे सब संकलेशपरिणाम ही हैं;

क्योंकि आत्म-रीढ़ध्यानरूप परिणामोंके कारण होनेसे 'संकलेशाङ्ग'-में शामिल हैं; जैसे कि हिंसादि-क्रिया संकलेशकार्य होनेसे संकलेशाङ्गमें गर्भित है। अतः स्वामी समन्तभद्रके इस कथनसे उक्त सूत्रका कोई विरोध नहीं है। इसी तरह 'कायदाङ्गमः कर्म योगः', 'स आत्मवः', 'शुभः पुण्यस्याङ्गशुभः पापस्य' इन तीन सूत्रोंके द्वारा शुभकायादि-व्यापारको पुण्यस्वरूपका और अशुभ-कायादि-व्यापार-को पापस्वरूपका जो हेतु प्रतिपादित किया है वह कथन भी इसके विरुद्ध नहीं पड़ता; क्योंकि कायादि-योगके भी विशुद्धि और संकलेशके कारण-कार्य-स्वभावके द्वारा संकलेशत्व-विशुद्धित्वकी व्यवस्थिति है। संकलेशके कारण-कार्य-स्वभाव ऊपर बतलाए जा चुके हैं। विशुद्धिके कारण सम्यगदर्जानादिक हैं, घम्यंध्यान तथा शुब्लध्यान उसके स्वभाव हैं और विशुद्धिपरिणाम उसका कार्य है। ऐसी हालतमें स्व-पर-दुःखकी हेतुभूत कायादि-क्रियाएं यदि संकलेश-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो वे संकलेशाङ्गत्वके कारण, विषभक्षणादिरूप कायादिक्रियाओंको तरह, प्राणियोंको अशुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण बनती हैं; और यदि विशुद्ध-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो विशुद्धध्यानत्वके कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादिक्रियाओंको तरह, प्राणियोंके शुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण होती हैं। जो शुभफलदायक पुद्गल हैं वे पुण्यकर्म हैं, जो अशुभ-फलदायक पुद्गल हैं वे पापकर्म हैं, और इन पुण्य-पाप-कर्मोंके अनेक भेद हैं। इस प्रकार संक्षेपसे इस कारिकामें सम्पूर्ण शुभाङ्ग-शुभरूप पुण्यपापकर्मोंके आत्मव-बन्धका कारण सूचित किया है। इससे पुण्य-पापकी व्यवस्था बतलानेके लिये यह कारिका किनती रहस्यपूर्ण है, इसे विज्ञपाठक स्वर्य समझ सकते हैं।

सारांश इस सब कथनका इतना ही है कि—सुख और दुःख दोनों ही, चाहे स्वस्थ हों या परस्थ—अपनेको हों या दूसरोंको—कथंचित् पुण्यरूप आत्मव-बन्धके कारण हैं, विशुद्धिके अङ्ग होनेसे;

कथचित् पापरूप आस्त्रव-बन्धके कारण हैं, संकलेशके अज्ञ होनेसे; कथचित् पुण्य-पाप उभयरूप आस्त्रव-बन्धके कारण है, क्रमापंत विशुद्धि-संकलेशके अज्ञ होनेसे; कथचित् अवक्तरूप हैं, सहार्पित-विशुद्धि-संकलेशके अज्ञ होनेसे। और विशुद्धि-संकलेशका अज्ञ न होनेपर दोनों ही बन्धके कारण नहीं हैं। इस प्रकार नयनविवक्षा-को लिए हुए अनेकान्तमार्गसे ही पुण्य-पापकी व्यवस्था ठीक बैठती है—सर्वथा एकान्तपक्षका आश्रय लेनेसे नहीं। एकान्त पक्ष सदोष है; जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है और इसलिये वह पुण्य-पापका सम्यक् व्यवस्थापक नहीं हो सकता।

इति देवागमाऽऽहमीमांसायां तत्त्वमः परिच्छेद ।

दशम परिच्छेद

अज्ञानसे बन्धका और अल्पज्ञानसे मोक्षका एकान्त

अज्ञानाच्चेद्भुवो बन्धो ज्ञेयाऽनन्त्यान्तं केवली ।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्भुतोऽन्यथा ॥१६॥

‘यदि (सांख्यमतानुसार) अज्ञानसे बन्धका होना अबद्य-भावी माना जाय तो ज्ञेयोंकी अभग्नतत्त्वके कारण कोई भी केवली-सकलविषयय-रहित तथा ज्ञानान्तरकी सहायता-रहित सत्त्वज्ञान-रूप केवलसे युक्त— न हो सकेगा । यदि अल्पज्ञानसे मोक्षका होना माना जाय तो अज्ञानके बहुत होनेके कारण बस्तका प्रसंग बराबर उपस्थित रहेगा और उसका निरोध न हो सकनेसे मोक्षका होना नहीं बन सकेगा ।’

उभय और अवश्यत्व एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्तोमयैकात्म्यं स्थाद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।

अवाच्यतेर्कान्तेऽप्युचितर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥१७॥

(सर्वात्मरूपसे एक व्यक्तिके एक कालमें) अल्पज्ञानसे भोक्ता और बहुत अज्ञानसे बन्ध इन दो एकान्तोंमें स्थाद्वाद-न्यायके विष्ट्रेखियोंके अविरोध सिद्ध नहीं होता, अतः परत्यर विरोधके कारण उभय एकान्त नहीं बनता । अवाच्यताका एकान्त माननेमें भी 'अवाच्य' है यह कहना ही नहीं बनता—इससे पूर्ववत् स्ववचन-विरोध घटित होता है ।

अज्ञान-अल्पज्ञानसे बन्ध-मोक्षको निर्दोष-विष्णि

अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाऽज्ञानाद्वीत-मोहृतः ।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥१८॥

'मोह-सहित अज्ञानसे बन्ध होता है—जो अज्ञान मोहनीय-कर्मप्रवृत्ति-लक्षणसे युक्त है वह स्थिति-अनुभागरूप स्वफलदान-समर्थ कर्म-बन्धका कर्ता है । जो अज्ञान मोहसे रहित है वह (उक्त फलदान-समर्थ) कर्म-बन्धका कर्ता नहीं है । और जो अल्पज्ञान मोहसे रहित है उससे मोक्ष होता है; परन्तु मोहसहित अल्पज्ञानसे कर्मबन्ध ही होता है ।

कर्मबन्धानुसार संसार विविधरूप और बढ़ जीव शुद्धि-

वशुद्धिके भेदसे दो भेदरूप

कामादि-प्रभवरिचत्रः कर्मबन्धाऽनुरूपतः ।

तच्च कर्म स्वहेतुम्यो जीवास्ते शुद्धयशुद्धितः ॥१९॥

'कामादिके उत्पादरूप जो भावसंसार कार्य है वह विचित्र है और कर्मबन्धकी अनुरूपतासे होता है—द्रव्य-कर्मोंका बन्धन

जिस प्रकार प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागको विशेषता एवं नाना-रूपताके कारण विचित्रताको लिए हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीयादि अनेक प्रकारका होता है उसी प्रकार उदय-नगलमें उसका भाव भी अज्ञान, अदर्शान, मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, सुख, दुःख और शारीरिक रचनादिनी विचित्रताको लिये हुए नानारूप होता है। और इससे यह फलिन होता है कि जो एक स्वभावरूप नित्य ईश्वर माना जाता है वह तथा उसकी इच्छा या ज्ञान इस नानास्वभावरूप जगतका कोई कर्ता नहीं हो सकता और न निमित्तकारण ही बन सकता है। इस विषयकी विशेष चर्चाको अष्टसहस्रीमें बहुत कहापोहके साथ स्थान दिया गया है।

और वह कर्मबन्धन अपने कारणोंके—रागादिक भावोंके—अनुरूप होता है। जिन्हें कर्मबन्ध होता है वे जीव शुद्धि और अशुद्धिके भेदसे दो प्रकारके हैं—भव्य और अभव्य। सम्यग्दर्शनादि शुद्धस्वभावरूप परिणत होनेको योग्यताकी व्यक्ति रखनेवाले जीव 'भव्य' कहलाते हैं और जिनमें वह योग्यताकी व्यक्ति न होकर सदा मिथ्यादर्शनादिरूप अशुद्धपरिणति बनी रहती है वे 'अभव्य' कहे जाते हैं। जो शुद्धि-शक्तिसे युक्त है उन्होंको काल पाकर मुक्ति हो सकती है, शेषको नहीं।'

शुद्धि-अशुद्धि वो शक्तियोंकी सादि-अनादि व्यक्ति
शुद्धयशुद्धी पुनः शक्ती ते पाद्याऽपाद्य-शक्तिनत् ।
साधनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

'और वे शुद्धि-अशुद्धि वोनों (मूँग, उड़द आदिके) पर्वते अपचनेकी योग्यताके समान—भव्य-अभव्य-स्वभावके रूपमें—हो जातीहैं, जिनकी व्यक्ति—प्रादुर्भूति इमशः सादि-अनादि है—शुद्धिकी प्रादुर्भूति सादि और अशुद्धिकी प्रादुर्भूति अनादि है; ये भी शुद्धिके अभिव्यञ्जक सम्यग्दर्शनादिक सादि होते हैं और

वशुद्विके अभिव्यंजक मिथ्यादर्शनादिकी सन्तति अनादिसे चली आती है। और यह वस्तु-स्वभाव है जो तर्कका विषय नहीं होता—अर्थात् स्वभावमें यह हेतुवाद नहीं चलता कि 'ऐसा क्यों होता है।'

प्रमाणका लक्षण और उसके भेद

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।

क्रमभावि च यज्ञानं स्याद्वाद-नय-संस्कृतम् ॥१०१॥

'(हे अहंत्र भगवन् !) आपके मतमें तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहा है। वह (तत्त्वरूपसे जाननेरूप) प्रमाणज्ञान एक तो युगपत् सर्वभासनरूप (केवलज्ञान) प्रत्यक्षज्ञान है और दूसरा क्रमशः भासनरूप (मति आदि) परोक्षज्ञान है। जो क्रमशः भासनरूप ज्ञान है वह स्याद्वाद तथा नयोंसे संस्कृत है—स्याद्वादरूप प्रमाण तथा नैगमादि नयोंके द्वारा संस्कारको प्राप्त है—प्रकट होता है।'

ब्याह्या—तत्त्व (यथार्थ) रूपसे जाननेवाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। वह दो प्रकारका होता है—एक अक्रमभावि और दूसरा क्रमभावि। जो युगपत् समस्त पदार्थोंका प्रकाशन करता है वह अक्रमभावि है और वह पूर्णतया प्रमाणरूप होता है। किन्तु जो क्रमशः पदार्थोंका प्रकाशन करता है वह क्रमभावि है तथा वह स्याद्वाद (प्रमाण) और नय (अंशात्मक नैगमादि) दोनों रूप होता है।

प्रमाणोंका फल

उपेक्षा-फलमाऽऽद्यस्य शेषस्याऽऽदान-हान-धीः ।

पूर्वि चाज्ञाननाशो वा सर्वस्याऽस्य स्वगोचरे ॥१०२॥

'युगपत्सर्वभासनरूप जो आद्य प्रमाण केवलज्ञान है उसका (व्यवहित) फल उपेक्षा है। दोबाहु क्रमशः भासनरूप जो प्रमाण

अत्यादि ज्ञान-समूह है उसका (व्यवहित-परंगरा) फल प्रहृण और स्थानकी मुद्दि है तथा पूर्वमें कही हुई उपेक्षा भी उसका (व्यवहित) फल है और अपने विषयमें अज्ञानका नाश होमा हस सारे ही प्रभाणरूप ज्ञानसमूहका (अव्यवहित अथवा साक्षात्) फल है ।

स्यात् निपातकी वर्णन्यवस्था

वाक्येष्वनेकान्तयोती गम्यं प्रति विशेषणम् ।

स्यान्निपातोऽर्थ-योगित्वाद्यन् देवलिनगामि ॥१०३॥

('हे अर्हन् !) आपके तथा अनेकलियोंके भी वाक्योंमें प्रयुक्त होनेवाला 'स्यात्' निपात (अव्यय) शब्द अर्थके साथ सम्बद्ध होनेसे अनेकान्तका द्योतक । और गम्य-बोध्य (विवक्षित) का द्योधक-सूचक (वाचक) माना गया है—अन्यथा अनेकान्त अर्थकी प्रतिपत्ति नहीं बनती ।'

व्याख्या—सत्-असत्-नित्य-अनित्यादि सकल सर्वयोकान्तोंके प्रतिक्षेप लक्षणको 'अनेकान्त' कहते हैं । और अपने वाक्यके परस्पर सापेक्ष पदोंके तथा वाक्यान्तरके पदोंसे निरपेक्ष^१ समुदायका नाम 'वाक्य' है । वाक्यके इस लक्षणसे भिन्न जो परवादियोंके द्वारा प्रकलिप्त अन्यथा वाक्य हैं वे निर्दोष न होकर बाधासहित हैं । वाक्यपदी (२, १-२) में वाक्यके प्रति न्याय-विदोंकी बाधा—भिन्न-मतिकी सूचना करते हुए दस प्रकारके वाक्योंका उल्लेख है, जिनके नाम हैं—(१) वास्तवात्वाद्य, (२) संघात, (३) जाति संधातवर्तिनी,

१. 'द्योतकाश्च भवन्ति निपातः' इति व्यवनात् (अष्टसहस्री) अर्थात्—निपात शब्द केवल वाचक हो नहीं किन्तु (प्रकृत अर्थसे भिन्न अर्थके) द्योतक भी होते हैं ।

२. वाक्यान्तरगतपदनिरपेक्षः (अष्टसहस्री, पृष्ठ २८५, टिप्पण) ।

(४) एकोनवयवशब्द, (५) क्रम, (६) बुद्धि, (७) अनुसंहृति, (८) आचारपद, (९) अन्त्यपद, (१०) सापेक्षपद ।

इन वाक्यप्रकारोंमें वाक्यके (अकलंकदेवकृत) उक्त लक्षण-की हृषिसे कौन वाक्य-भेद सदोष और कौन निदोष कहा जा सकता है, इसका अष्टसहस्रीमें श्रीविद्यानन्दाचार्यने सहेतुक विस्तृत विचार किया है ।

स्याद्वादका स्वरूप

स्याद्वादः सर्वथैकान्त-स्यामात् किञ्चुत्सच्चिद्धिः ।

सप्तभंग-नयापेक्षो हेयाऽदेय-विशेषकः ॥ १०४ ॥

‘स्यात्-इदं तद्वाद सर्वथा एकान्तका त्यागो होनेसे ‘कि’ शब्द-निरपेक्ष चितु-प्रकारके रूपमें कथंचित् कथंचन आदिका वाचक है—और इसलिये कथंचित् आदि शब्द स्याद्वादके पर्याय-नाम हैं । यह स्याद्वाद सप्तभंगों और नयोंकी अपेक्षाको लिये रक्षता तथा हेय-उपादेयका विशेषक (भेदक) होता है—स्याद्वादके बिना हेय और उपादेयकी विशेषरूपसे व्यवस्था नहीं बनती ।’

अध्यात्मा—जिन सप्तभंगोंका यही उल्लेख है उन अस्ति-नास्ति-अद्वक्तव्यादि-रूप सात भंगोंका निर्देश ग्रन्थमें इससे यहले आ चुका है । रही नयोंकी वात, सो नयोंके मूलोत्तर-भेदादिके रूपमें बहुत विकल्प हैं । जैसे द्रव्य-पर्यायकी हृषिसे द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक ये दो मूल नय हैं; अध्यात्महृषिसे निश्चय और व्यवहार ये दो भी मूल नय हैं । शुद्धि-अशुद्धिकी हृषिसे भी नयोंके दो-दो भेद किये जाते हैं; जैसे शुद्धद्रव्यार्थिक, अशुद्धद्रव्यार्थिक, शुद्धपर्यायार्थिक, अशुद्धपर्यायार्थिक, शुद्धनिश्चय, अशुद्धनिश्चय, सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार इत्यादि । द्रव्यार्थिकके उत्तरभेद तीन—तैगम, सग्रह और व्यवहार; पर्यायार्थिकके उत्तरभेद चार—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत । इन सप्तनयोंमें प्रथम चार भेद

'अर्थनय' और शेष तीन भेद 'शब्दनय' कहे जाते हैं। इन सबके उत्तरोत्तर भेद असंख्य हैं। संक्षेपमें कहा जाय सो जितने वचनमार्ग हैं—शब्दभेद हैं—तथा अपने-अपने ज्ञानके विकल्प हैं उतने-उतने नयोंके भेद हैं। नयोंका यह विषय बड़ा ही महन-गंभीर है। इनके लक्षणादिका विशेष कथन नयचक्रादि ग्रन्थोंसे जानने योग्य है।

स्याद्वाद और केवलज्ञानमें भेद-निर्देश

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्व-प्रकाशने ।

भेदः साक्षादसाक्षात्त्वं श्वस्त्वन्यतर्म भवेत् ॥ १०५ ॥

स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों (जीवादि) सब तत्त्वोंके प्रकाशक हैं। दोनोंके प्रकाशनमें साक्षात् और असाक्षात् (परोक्ष)-का भेद (अन्तर) है—केवलज्ञान जीव, अजीव, आत्मव, बन्ध, संवर, निंजंरा, मोक्ष इन सात तत्त्वोंका प्रत्यक्षतः एव युगपत् प्रकाशक है और स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान इन पदार्थोंका अप्रत्यक्षतः (परोक्षरूपसे) क्रमशः प्रकाशक है। इन दोनों ज्ञानोंमेंसे जो किसी भी ज्ञानके द्वारा प्रकाशित अथवा उसका वाच्य नहीं वह अवस्तु होती है।'

नय-हेतुका लक्षण

सधमण्डेव साध्यस्य साधम्यादविरोधतः ।

स्याद्वाद-प्रविभक्ताऽर्थ-विशेष-व्यञ्जको नयः ॥ १०६ ॥

'स्याद्वादरूप परमाग्रमसे विभक्त हुए अर्थविशेषका—शब्द-अभिप्रेत-अप्रसिद्धरूप विवादगोचर साध्यका—जो सर्वमा—हृष्टःन्त-के हुआ, साध्यके साधम्यसे और (विपक्षके) अविरोधरूपसे व्यञ्जक है—गमक अथवा बोधक है—उसकी नय—नयविशेषरूप हेतु—कहते हैं—'नोयते गम्यते साध्योऽर्थोऽनेन इति नयः' इस निरुक्तिसे 'नय' शब्द यहाँ हेतुका वाचक है और अनेक घमोंमेंसे एक-धर्म-प्रतिपादक सामान्य नयकी हृष्टिमें भी वह स्थित है।'

द्रव्यका स्वरूप और भेदोंकी सूचना

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः ।

अचिभाद्यत्वात्तद्विषये ॥१०७॥

'त्रिकालवर्ति नयों-उपनयोंके एकान्त-विषयोंका—पर्याथ-विशेषोंका—जो अपृथक् स्वभाव (तदात्म्य) सम्बन्धको लिये हुए समुच्चय-समूह है वह द्रव्य-वस्तु है और वह एक अनेक भेदरूप है।'

निरपेक्ष और सापेक्ष नयोंकी स्थिति

मिथ्या-समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः ।

निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८॥

'यदि यह कहा जाय कि (एकान्तोंको तो आप मिथ्या बतलाते हैं तब नयों और उपनयों-रूप एकान्तोंका जो समूह द्रव्य है वह मिथ्या-समूह छहरा) मिथ्याओंका जो समूह वह तो मिथ्या ही होता है (अतः द्रव्य कोई वस्तु न रहा) तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि (हे जिनदेव !) आपके मतमें और इसलिये हमारेमें (सापेक्ष नयोंका ग्रहण होनेसे) मिथ्या एकान्तता नहीं है, जो नय (प्रतिपक्षी धर्मके सर्वथा निराकरणरूप) निरपेक्ष होते हैं वे ही मिथ्यानय (दुर्नीय) होते हैं सापेक्ष नय (जो कि प्रतिपक्षी धर्मकी उपेक्षा अथवा उसे गौण किये होते हैं) मिथ्या न होकर सम्बद्धकृत्य होते हैं, उनके विषय अर्थ-क्रियाकारी होते हैं और इसलिये उनके समूहके वस्तुपना सुघटित है।

व्याख्या—यहीं अनेकान्तके प्रतिपक्षी-द्वारा यह आपत्ति की गई है कि जब एकान्तोंको मिथ्या बतलाया जाता है तब नयों और उपनयों-रूप एकान्तोंका समूह जो अनेकान्त और तदात्मक वस्तुतत्त्व है वह भी मिथ्या छहरता है; क्योंकि मिथ्याओंका समूह मिथ्या ही होता है। इसपर मात्रकारमहोदय कहते हैं कि यह

आपत्ति ठीक नहीं है; क्योंकि हमारे यहाँ कोई भी वस्तु मिथ्या एकान्तके रूपमें नहीं है। जब वस्तुका एक धर्म दूसरे धर्मकी अपेक्षा नहीं रखता—उसका तिरस्कार कर देता है—तो वह मिथ्या कहा जाता है और जब वह उसकी अपेक्षा रखता है—उसका तिरस्कार नहीं करता—तो वह सम्यक् माना जाता है। वास्तवमें वस्तु निरपेक्ष एकान्त नहीं है, जिसे सर्वथा एकान्तवादी मानते हैं; किन्तु सापेक्ष एकान्त है और सापेक्ष एकान्तोंके समूहका नाम ही अनेकान्त है, तब उसे और तदात्मक वस्तुको मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता ।

वस्तुको विधि-वाक्यादिद्वारा नियमित किया जाता है

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना बारणेन वा ।

तथाऽन्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥१०९॥

(यदि कोई यह शंका करे कि वस्तुतत्त्व जब अनेकान्तात्मक है तब वाक्यके द्वारा उसे कैसे नियमित किया जाय, जिससे प्रतिनियत विषयमें लोककी प्रदृष्टि बन सके, तो उसका समाधान यह है कि) अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व विधिवाक्य अथवा निषेध-वाक्यके द्वारा नियमित किया जाता है। विधि या निषेधरूप जिस वाक्यके द्वारा वह नियमित किया जाय उसरूप तथा उससे अन्यथा—विषयरूप वह अवश्य होता है, क्योंकि विधि-निषेधका परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है और इससे जिस विधि या निषेध-वाक्यके द्वारा वह नियमित किया जाता है वह उस समय मुख्य होता है और प्रतिपक्षी वाक्यका विषय गौण । यदि ऐसा न माना जाय—विधि-निषेधरूपसे उसका अवश्यभावकीपना स्वीकार न किया जाय—तो उस केवल विधि या केवल निषेध-वाक्यसे जो विशेष्य (वस्तु-तत्त्व) है वह नहीं बन सकेगा; क्योंकि प्रतिषेधरहित विधिके और विधिरहित प्रतिषेधके विशेषणपना नहीं बनता और विधि-प्रतिषेध दोनोंसे रहितके गगन-कुमुमके समान विशेष्यपना नहीं

बनता है। और इस तरह सत् असत् आदि वाक्योंमें विधि-निषेधकी गौण तथा प्रधानरूपसे वृत्तिका होना लक्षित होता है।'

तदत्तु वस्तु को लटूप ही कहनेवाली वाणी सत्य नहीं

तदत्तु वाचका तदवैत्यनुशासती ।

न सत्या स्यान्मृषा-वाक्यैः कथं तत्त्वार्थ-देशना ॥११०॥

'(यदि यह कहा जाय कि वाक्य विधिके द्वारा ही वस्तुरास्त्वका नियमन करता है तो यह सर्वथा एकान्त ठीक नहीं है; क्योंकि) वस्तु तत्-असत्रूप है—हृष्ट-भेदके साथ अविनाभावसम्बन्धको लिये हुए सत्-असत्, निरूप-अनिरूपादि अनेकान्तरूप है—जो वाक्य (वाणी) उसे सर्वथा तत्त्वरूप—सत्-निरूपादिरूप—ही प्रतिपादन करता है—उसके प्रतिपक्षी अविनाभावी धर्मको गौण किये हुए न होकर उसका विरोधक है—बहु सत्य नहीं होता तब (ऐसे) मिथ्या-वाक्योंसे तत्त्वार्थकी—यथार्थ वस्तुस्वरूपकी—देशना (कथनी) कैसे बन सकती है ?—नहीं बन सकती ।'

आख्या—यद्यपि सभी (विधि और प्रतिषेध) वाक्य विधि और प्रतिषेध दोनों-रूप वस्तुका प्रसिपादन करते हैं फिर भी यदि कहा जाय कि वे केवल विधिका ही अनुशासन (उपदेश) करते हैं तो यह कथन सत्य (यथार्थ) नहीं—मिथ्या है और मिथ्या-वाक्योंके द्वारा वस्तुस्वरूपका यथार्थ कथन नहीं बन सकता। अतः वाक्य चाहे विधिरूप हों और चाहे निषेधरूप, सभी विधि तथा प्रतिषेध दोनों-रूप वस्तुका प्रतिपादन करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि विधि-वाक्यके द्वारा विधिका कथन मुख्यरूपसे और प्रतिषेधका कथन गौणरूपसे तथा प्रतिषेध-वाक्यके द्वारा प्रतिषेधका कथन मुख्यरूपसे और विधिका कथन गौणरूपसे किया जाता है। यही यथार्थ तत्त्व-देशना है।

वाक्-स्वभाव-निर्देश, तद्दिन वाक्य अवस्था

वाक्-स्वभावोऽन्यवाक्यर्थ-प्रतिषेध-निरक्षणः ।

आह च स्वार्थ-सामान्यं तादुवाक्यं सु-गुण्यवत् ॥१११॥

(यदि बीदोंकी मान्यतानुसार यह कहा जाय कि वाक्य प्रतिषेधके द्वारा ही वस्तुतत्त्वका नियमन करता है तो यह एकान्त भी ठीक नहीं है; क्योंकि) वाक्यका यह स्वभाव है कि वह अपने अर्थ-सामान्यका प्रतिपादन करता हुआ अन्य-वाक्योंके अर्थ-प्रतिषेध-में निरक्षण होता है—बिना किसी रोक-टोकके दूसरे सब वाक्योंके विषयका निषेध करता है; जैसे 'घट लाओ' यह वाक्य पट लाओ, लोटा लाओ, घड़ी लाओ, खेज (कुसी) लाओ इत्यादि पर-वाक्यों-के अर्थका स्वभावसे निषेधकरूप है । इस वाक्-स्वभावसे भिन्न बीदोंका जो उस प्रकारका अन्यापोहात्मक वाक्य है वह आकाशके पुष्प-समान अवस्था है—कहा-न-कहाके बराबर अथवा अनुकूल-तुल्य है, क्योंकि विशेष-रहित सामान्य और सामान्य-शून्य विशेष कहीं भी (बाहर-भीतर) उपलब्ध नहीं होता । जब उपलब्ध नहीं होता तब विशेष-रहित सामान्य ही अथवा सामान्य-शून्य विशेष ही वस्तुका स्वरूप है, इस प्रकारके आपह-द्वारा स्व-परको कैसे लगा जाय ? नहीं लगा जाना चाहिये ।

इथार्थ्या—बीदोंकी मान्यता है कि कोई भी वाक्य हीं वे सब अन्यापोह-रूप प्रतिषेधका ही प्रतिपादन करते हैं, विधिका नहीं । इस पर आचार्य कहते हैं :—वाक्य (वाणी) का यह स्वभाव है कि वह अन्य वाक्यों-द्वारा प्रतिपादित अर्थका निर्वाचिरूपसे प्रतिषेध करता है और अपने विशिष्ट अर्थ-सामान्यका भी कथन करता है । यदि केवल अन्यापोहरूप प्रतिषेध ही वाच्य हो तो उक्त प्रकारका वाच्य आकाश-पुष्पकी तरह बसत है । हमें विशेषको छोड़कर केवल सामान्य और सामान्यको छोड़कर केवल विशेष कहीं उपलब्ध नहीं होता । जब उक्त प्रकारका वाच्य उपलब्ध

नहीं होता तो हम ऐसा अभिनिवेश करके कि वाक्यके द्वारा स्व (विभि) अथवा पर (प्रतिषेध-अन्यापोह) ही कहा जाता है, क्यों आमक प्रवृत्ति करें या दूसरोंको ठगें। अतः जिस प्रकार वाक्य-के द्वारा केवल विशेषका ही नियमन नहीं होता उसी तरह केवल प्रतिषेध (अन्यापोह) का भी नियमन नहीं होता। किन्तु उभय-का नियमन होता है और वह वाक्य (वाणी) का स्वभाव है।

अभिप्रेत-विशेषकी प्राप्तिका सच्चा साधन

सामान्यवाग्विशेषे ऐन्न शब्दार्थो मृषा हि सा ।

अभिप्रेत-विशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्य-लाल्लनः ॥११२॥

'यदि यह कहा जाय कि ('अस्ति' जैसा) सामान्य वाक्य परके अभावरूप (अन्यापोह) विशेषमें वर्तता है—उसे प्रतिपादित करता है—तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि सामान्यवाक्य विशेषमें शब्दार्थरूप नहीं है—अभिप्रायमें स्थित विशेषको नहीं जनाता अथवा प्रतिपादित नहीं करता—और इसलिये सत्यरूप न होकर मिथ्यान्वाक्य है। अभिप्रायमें स्थित जो विशेष उसकी प्राप्तिका सच्चा लक्षण अथवा 'चिन्ह स्वाद्वाद' (स्यात् शब्दपूर्वक वाद-कथन) है—सामान्य-विशेषात्मक वस्तुका जब मुख्यतः सामान्यरूपसे कथन किया जाता है तब उसका विशेषरूप गोण होकर वक्ताके अभिप्रायमें स्थित होता है, जिसे साथमें प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द व्यक्त अथवा सूचित करता है। और इसलिये 'स्यात्कार' अभिप्रेत-विशेषके जाननेका सच्चा साधन एवं भार्ग है। अभिप्रेत वही होता है जो स्वरूपादि (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) के द्वारा सत् होता है—पररूपादिके द्वारा सत् नहीं।'

व्याख्या—बोद्धोंका कथन है कि विशिरूप सामान्यको कहने-वाला वाक्य भी विशेष (अन्यापोह) का ही प्रतिपादन करता है—उसीमें उसकी प्रवृत्ति होती है। पर उनका यह कथन संगत

नहीं है; क्योंकि इससे अन्यापोह-शब्दका अर्थ सिद्ध नहीं होता। शब्दका कही अर्थ माना जाता है जिसमें उस शब्दकी प्रवृत्ति हो। अन्यापोहमें किसी भी शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती। ऐसी स्थितिमें विधिरूप सामान्यको कहनेवाला वाक्य भी आपके मतानुसार मिथ्या ठहरता है। वास्तवमें वही वाक्य सत्य है जिसके द्वारा अपने अभिप्रेत अर्थ-विशेषकी प्राप्ति होती है और ऐसा वाक्य 'स्यात्' शब्दसे युक्त ही संभव है और उसीसे सत्य (यथार्थ अर्थ) की पहचान होती है। क्योंकि वह लोगोंको अभिप्रेत अर्थ-विशेषकी प्राप्ति कराता है। अन्य (स्यात्कारसे रहित) वाक्योंमें अर्थ-विशेषकी प्राप्ति नहीं होती। यही स्याहाद् अन्यकारोंको अर्थ-विशेष अन्तर है।

स्याहाद् अन्यकारोंको अर्थ-विशेष अन्तर

स्याहाद्-संस्थिति य. प. अ चिन्त्य प्रजाशवित्

विषेयमीप्सितार्थाङ्गं प्रतिषेध्याऽङ्गिरोधि यत् ।

तथैवाऽऽदेव-हेयत्वाभावे स्याहाद् अन्यकारोंको अर्थ-विशेष साग अन्यकारोंको अर्थ-विशेष

'(अस्ति इत्यादिरूप) जो विषेय है—मनके अभिप्रायपूर्वक जिसका विधान किया जाता है, किसीके भयादिवश नहीं—और ईप्सित-अर्थक्रियाका कारण है वह प्रतिषेधके—नास्तित्वादिके—साथ अविरोधरूप है—जो नास्तित्वादिके साथ अविरोधरूप नहीं वह ईप्सित-अर्थक्रियाका कारण भी नहीं हो सकता; क्योंकि विधि-प्रतिषेधके परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है, विधिके बिना प्रतिषेधका और प्रतिषेधके बिना विधिका अस्तित्व नहीं बनता। और जिस प्रकार विषेय प्रतिषेधका अविरोधी ईप्सित अर्थ-क्रियाका अंग-कारण सिद्ध है उसी प्रकार वस्तुका आवेय-हेयपना है, वस्तुता नहीं; क्योंकि विषेयका एकान्त होनेपर किसीके हेयत्वका विरोध होता है; प्रतिषेधका एकान्त होनेपर किसीके आदेयत्वका विरोध होता है; स्याहादीके अभिप्रायानुसार सर्वथा विषेय ही प्रसिषेद्य नहीं होता; कथंचित् विधि-प्रतिषेधके तादाम्य

माना गया है। अतः विशेष-प्रतिवेषात्मक विशेषके कारण सहभंगी-के समाश्रयसे स्याद्वाद प्रक्रियमाण होता है। इस प्रकार स्याद्वाद-की (सर्वत्र यक्षित-शास्त्राऽविरोधके कारण) यह सम्यक् स्थिति है। और इसलिये है बीर भगवन् ! हमने जो यह निश्चय किया है कि 'युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्यके कारण आप ही निदोष आप्त हैं' वह अनवद्य है—सर्वप्रकारसे बाधा-रहित है।'

आप्त-मीमांसाका उद्देश्य

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिळ्ठताम् ।

सम्यग्मिष्योपदेशार्थ-विशेष-प्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥

'इस प्रकार ('देवागम' नामके स्वीकृत देश-परिच्छेदात्मक शास्त्रमें) यह आप्तमीमांसा—सर्वज्ञ-विशेष-ज्ञान—हित चाहने वालोंके—मुख्यतः मोक्ष और उसका कारण सम्यग्दर्शनादिरूप रूपत्रयके अभिलाषी भव्यजीवोंके—सम्यक् उपदेश और मिष्या उपदेशके अर्थ-विशेषकी प्रतिपत्तिके लिये—उपादेय तथा हेयरूपसे अद्वान, ज्ञान और समाचरणकी प्राप्तिके लिए—को गई है।'

इति देवागमाऽप्तमीमांसायां दशमः परिच्छेदः ।

बनुद्वादकीय-बन्त्य-मंगल

यस्य सच्छासनं लोके स्याद्वादाऽमोघ-लाङ्घनम् ।

सर्वभूत-द्योपेतं दम-त्याग-समाधिसूत् ॥ १ ॥

नय-प्रमाण-सम्युच्टं सर्व-नावा-विवर्जितं ।

सार्वमन्यैरजयं च तं वीरं प्रणिदध्यहे ॥ २ ॥

[जिनका सभीशोन शासन इस लोकमें स्याद्वादरूप अमोघ लक्षणसे लक्षित है—सर्वथा एकान्तवादरूप न होकर अनेकान्त-वादात्मक है, इसीसे कभी असफल न होनेवाला है—सर्वप्राणियोंकी

दयासे युक्त है, इन्द्रिय-दमन, परिग्रह-त्यजन और ध्यान-समाधिकी तत्परताको लिए तथा उनकी शिक्षाओंसे परिपूर्ण है, नवों तथा प्रमाणोंसे भले प्रकार पुष्ट है, सर्वबाधाओंसे विबर्जित है. सबके हितरूप है और अन्य समस्त एकान्त-शासनोंके द्वारा अजेय है—कोई भी उसे जीत नहीं सकता—उन श्रीवीर भगवान्को मैं नत-मस्तक होता है ।]

यदूभक्तिभाव-निरता मुनयोऽकलंक-
विद्यादिनन्द-जिनसेन-मुवादिराजाः ।
गायन्ति दिव्य-वचनैः सुयशांसि यस्य
भूयाच्छुर्यै स युगवीर-समन्तभद्रः ॥३॥

[जिनकी भक्तिमें लीन हुए अकलंकदेव, विद्यानन्दस्वामी, भगवज्जिनसेन और वादिराज प्रभुख जैसे महामुनि अपने दिव्य-वचनों-द्वारा जिनके सुयशोंका गान करते हैं वे युगवीर—इस युधके प्रधान पुरुष—श्रीसगन्तभद्रस्वामी हमारी श्रीवृद्धिके लिए निमित्त-भूत होते—उनके प्रसादसे अथवा प्रसन्नतापूर्वक आराधनसे हमें निजश्रीकी—आत्मीय लक्ष्मी-ज्योति, शोभा-प्रभा सम्पत्ति-विभूति, शक्ति-सरस्वती और सिद्धि-समृद्धिकी—अधिकाधिक प्राप्ति होते ।]

इति श्रीनिरवद्यस्याह्वादविद्याधिपर्ति - सकलताकिकचक्नूद्वामणि-शब्दा-
गुणज्ञतादिसातिशयगुणगणकिभूषित-सिद्धसारस्वत-स्वामिसमन्तभद्राचार्यप्रणीतं
सम्परिमव्योपदेशार्थविद्येषप्रतिपत्तिरूपं देवागमाऽप्यरनामाऽप्तमीमांसाशास्त्रं
युगवीर-ज्ञुगलकिशोर-मुरुतारविरचित-स्पष्टार्थादिगुडलाऽनुवादसमन्वितं
समाप्तम् ।

१. 'श्री' शब्द उन सभी अवौमे प्रयुक्त होता है जिन्हें 'निजश्री' की व्याख्यामें व्यक्त किया गया है और जो यही विवरित है ।

देवागम-कारिका अनुक्रमणिका

कारिकाऽऽव्यचरण क्रमांकसंहित

काठ पृष्ठांक

बजाना-ज्ञेदध्रुवो बन्धो	२६	९३	एवं विभिन्निषेधाभ्यां	२१	२२
बजानान्मोहितो बन्धो	२८	९४	कथंचिन्ने सदेवेष्ट	१४	१८
भद्रैतं न विना द्वैतादि	२७	२६	कर्म-द्वैतं फल-द्वैतं	२५	२५
अद्वैतंकान्तपक्षेऽपि	२४	२४	कामादिप्रभविचत्रं	१९	१४
अद्यात्मं वहिरव्येष	२	४	कायं-कारण-नानात्वं	६१	५४
अनन्यतंकान्तेऽगूता	६०	६०	कार्य-आन्तेरण-प्राप्ति-	६०	६१
अनपेक्षे पृथक्तर्वक्ये	३३	३०	कायं-द्रव्यमनादि स्थात्	१०	१६
अन्तराण्डतीकान्ते	७८	७२	कायोलादः क्षयो हेतो-५८	५८	५१
अन्येऽयतन्यशब्दाभ्य	५४	३८	कुण्डलाकुशल कर्म	८	६
अबुद्धिपृविषेकाया-	११	८४	क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं	१६	२०
अभावैकान्तपक्षेऽपि	१२	१७	अणिकैकान्त-पक्षेऽपि	४१	३६
अवकलव्यचतुष्काटि-	४३	३९	घट-मौलि-सुवर्णर्धि	५९	५८
अवस्तव-भिलापां स्थात्	४८	४१	चतुष्कोटेविकल्पस्य	४१	३८
अशक्यत्वादवाच्यं किम्	५०	५३	जीवशब्दः सवाह्यार्थं	८४	७६
अस्तित्वं प्रतिषेध्येनान्	१७	२०	तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते	१०१	१८
अहेतुकत्वान्ताशस्य	५२	५१	तदतदस्तु वागेषा	११०	१०२
आश्रयाऽऽश्रयभावान्	३४	५८	नीर्धक्तसमयानां च	३	५
इतीयमासमं मांसा	११४	११४	त्वन्मत्तामृत-चाह्यानां	७	८
उपेक्षा फलमाद्यस्य	१०२	९६	देवागम-नभोयान-	१	३
एकल्पेऽन्यतराभावः	६१	६१	देश-काल-विशेषेऽपि	६३	५७
एकस्याऽनेकवृत्तिर्न	६२	५६	देवादेवार्थ-सिद्धिष्वेद्	८८	८१
एकाज्ञेक-विकल्पादा-	२३	२३	दोषाऽवरणयोर्हानि-	४	६

काठ पृष्ठांक

द्रव्य-पर्यायियोरेक्यं	७१	६४	वक्तर्यनाप्ते यद्वेतोः	७८	७१
द्रव्याश्चान्तरभावेन	४७	४०	वक्तृ-श्रोतृ-प्रमातृणां	८६	७८
धर्म-शर्म्यविनाभावः	७५	६८	वाक्येष्वनेकान्तद्वीती	१०३	९७
धर्म धर्मेऽन्य एवाथो	२२	३३	वाक्स्वभावोऽन्यदागर्थ-११	१०३	
नयोपनयैकान्तानां	१०३	१००	विघ्नेय-प्रतिषेध्यात्मा	१९	२२
न सामाज्यात्मनीदेति	५३	५०	विघ्नेयमी-स्त्रीरथीङ्कृ	३३	३०५
न हेतु-फल-भावादि-	४३	३७	विरूप-कार्यारम्भाय	५३	४६
नास्तित्वं प्रतिषेध्येना-१८	२१		विरोधान्नोभयंकात्म्य	१३	१७
नित्यं तत्प्रत्याभिज्ञानात्	५५	४९	विरोधान्नोभयंकात्म्य	३२	२९
नियम्यतेऽथो वाक्येन	१०९	१०१	विरोधान्नोभयंकात्म्य	५५	४९
परोक्तानि न दध्यति	६०	५८	विरोधान्नोभयंकात्म्य	७०	६३
पार्ण भ्रुवं परे दुःखात्	१२	८५	विरोधान्नोभयंकात्म्य	७४	६८
पुण्य भ्रुवं स्वतो दुःखात्	१३	८८	विरोधान्नोभयंकात्म्य	७७	७०
पुण्य-पाप-क्रिया न स्यात्	४०	३६	विरोधान्नोभयंकात्म्य	८२	७५
पृथक्त्रैकान्त-पक्षेऽपि	२८	२७	विरोधान्नोभयंकात्म्य	९०	८४
पौरुषादेव सिद्धिश्वेत-	८९	८२	विरोधान्नोभयंकात्म्य	९४	९०
प्रमाण-कारकं वर्यवत्	३८	३४	विरोधान्नोभयंकात्म्य	१३	१४
प्रमाण-गोचरी सन्ती	३६	३१	विवक्षा चाऽविवक्षा च	३१	३१
वहिरंगार्थत्वैकान्ते	८१	७४	विशुद्धि-सकलेशाङ्गं चेत्	९५	९०
बुद्धि-शब्द-प्रमाणत्वं	८७	८०	शुद्धवशुद्धी पुनः शक्ती	१००	९५
बुद्धि-वद्वार्थ-संज्ञास्ता-	८५	७७	शेषभंगाद्वच नेतव्याः	२०	२२
भावप्रमेयाऽपेक्षायां	८३	७५	संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च	७२	६४
भावकान्ते पदार्थानाम्	९	१५	स त्वमेवाऽसि निर्दोषी	६	८
मिथ्यासमूहो मिथ्या			सत्त्वामान्यात् सर्वेषय	३१	२८
चेत्	१०८	१००	सदात्मना च भिन्नं चेत्	३०	२८
यदि सत्सर्वथा कार्य	३९	३४	सदेव सर्वं को नेच्छेत्	१५	१९
यद्यस्त्वसर्वथा कार्य	४२	३७	सधर्मणैव साध्यस्य	१०६	९९
यद्याऽपेक्षिक-सिद्धिःस्यात्	७३	६६	सन्तानः समुदायश्च	२९	२७

सर्वथाऽनभिसम्बन्धः	६६	६०	सिद्धं चेद्देतुतः सर्वं	७६	७९
सर्वतिमकं तदेकं स्यात्	११	१६	सकृमाऽन्तरिस-द्वूराचारः	५	७
सर्वान्तिश्चेदवक्तव्या-	४९	४२	स्कन्धसन्ततयश्चैव	५४	५७
साध्य-साधन-विज्ञाप्ते-	८०	७३	स्याद्वाद-केवलज्ञाने	१०५	११
सामान्यवाग्विशेषे चेत्	११२	१११	स्याद्वादः सर्वथैकाम्त-	१०४	१८
सामान्यं समवायश्च	६५	५९	हिनस्त्यनभिसंधातु	५१	५४
सामान्याऽर्था गिरोऽन्येषां	३१	२८	हेतोरद्वैत-सिद्धिश्चेद-	२६	२५



देवागमकी प्रसुख-शब्द-सूची

हिन्दू धर्म का संक्षिप्त शब्दाल्प

व.	अनादि	९,१०,१००	
अकषाय	९२	अनाद्यन्त	९
अक्षमात्	५६	अनापेक्षिकसिद्धि	७३
अकुशलकर्म	८	अनाप्त	७८
अगोरस-व्रत	६०	अनाहृत्	६२
अचेतन	९२	अनिर्मोक्ष	८८
अज्ञान, नाश	१२, १६, १८, १०२	अनिष्ट	९१
अणुभ्रान्ति	६८	अनुमेय	५१
अस्तक्षोचर	१००	अनुशशात्	११०
अतावक	९	अनेकान्ताद्योती	१०३
अतिशायन	४	अन्त	७, ८-१०, १२, १३, २२
अहैत	१६, २४, २७	३२, ४५, ४८, ५०, ५५, ७०,	
अद्वैतसिद्धि	२६	७४, ७७, ८२, ९०, ९४, ९७	
अद्वैतकान्तपक्ष	२४	१०३,	
अध्यात्म	२	अन्तर	४३, ४७
अनन्तता	१०	अन्तरंगार्थतेकान्त	७९
अनन्तवर्मा-घर्मी	२२, ३५	अन्तरितार्थ	५
अनन्त्य,-तेकान्त	४४, ५३, ६७	अन्यथा	९६, ९८, १०९
अनन्त्य	४३	अन्यापोह-व्यातिक्रम	११
अनपेक्षे,-क्षय	३३, ५८	अन्त्य	५६
अनभिलाप्य	४८	अपहृत	९, १२
अनभिसंधिमत्	५१	अपाक्षय-शक्ति	१००
अनवस्थित	२१	अपूर्थक्	२८

अपेक्षा	१९	अवक्षयचतुष्कोटिविकल्प	४६
अपोह	११	अवस्तु	३३,४६,४८,१०५
अबोध	५०	अवाच्य, अवाच्यतैकान्त	१३,१४,
अबुद्धिपूवपिका	९१		३२,५०,५५,७०,७४,८२,
अभाव	९,१०,१२,३०,३१,३७		९०,९४,९७
	४१,५०,६२		
अभावपदार्थ	९	अविच्छिद	५६
अभावैकान्तपक्ष	१२	अविनाभाव	७५
अभेद	११९,३४,३६	अविनाभावि,-भृ	१७,१८,६९
अभिसम्बिमत्	५१	अनिष्टाङ्गात्मकव्यवह	१०७
अभोध	८९	अचिरुद्ध	३६
अभोह	९८	अविरोध,-धि	६,१०६,११३
अयुक्त	५३	अविवक्षा	३५
अयोग	४५	अविशेष, अविशेष्यत्व	५३,१०९
अर्थ,-संशा	५,९,२१,२२,३१, ४४,६६, ७६, ७९	अविशेष्य-विशेषण	४६
	८१,८४,८८,१०२	अव्यतिरेक	७१
	१०३,१०८-११४	अशार्कि,-धाराव्यत्व	१६,५०
अर्थकृत्	२१,१०८	वघुद्धि	९९,१००
अर्थयोगित्व	१०३	असत्	१४,१५,३०,३५,४२, ४७,८७
अर्थ-विशेष-प्रतिपत्ति	११४		
अर्थ-विशेष-व्युत्क	१०६	अस्वरूप	९
अर्थसिद्धि	८८	अष्टाङ्गहेतुक	५३
अर्थी	३५,६०	असंचरद्वेष	५६
अपिता	१६	असर्वान्ति	४९
अर्हन्	९५	असंस्कृत	५४
अवक्षय	१६,४६,४९	असंहतत्व	६७
अवक्षयोत्तरभंग	१६	असाधारणहेतु	१०५
		असुख	३४
			९५

अहेतु,-कत्वा	१९, २७, ५२	उपादान-नियाम	४२
आ		उपाधि	२१
आगम	१, ७६, ७८	उपेक्षा	१०२
आगमसाधित	७८	उभयोकात्म्य	१३, ३२, ५५, ७०,
आत्मन्-त्वा	१९, ३०, ५७		७४, ७७, ८२, ९०,
आदान-ह्रानघी, आद्य	१०२		९४, ९७
आनन्द्य	९६	ए, ऐ	
आदेय-त्वा	१०४, ११३	एकसन्तान	४३
आपेक्षिकसिद्धि	७३	एकान्त	७, ९, १२, १३, २४, २८
आस-त्वा	३, ७, ७८, ११४		३३, ३४, ३९, ४१, ५५
आष्टमीमांसा	११४		६१, ६७, ७०, ७४, ७७
आस्तभिमानदण्ड	७		७८, ८१, ८२, ९०, ९४,
आभास	७९, ८१, ८३		९७, १०४, १०७, १०८
आवरण	५	एकान्तग्रहरक्त	८
आश्रय	६४, ६५	एकान्तपक्ष	१२, २४, २८, ३७, ४१
आश्रयाश्रयिभाव	६४	ऐक्य	३३, ३४, ७१
आश्रयो	५३	क	
आस्तव	९५	कथंचित्	१४
इ, ई, उ		कर्म	८, २५, ९६
इन्दियार्थ	३८	कर्मदैत	२५
इष्ट	६, ७, १४, ९१	कर्मवन्धानुरूप	९९
ईप्सिलाथार्जु	११३	कामाविप्रभव	९९
उक्ति	१३, ३२, ४५, ५०, ५५,	कारक	२४, ३७, ३८, ७५
	७०, ७५, ७७, ८२, ८४,	कारण	६१, ६४, ६८
	९०, ९४, ९७	कारक-ज्ञापकार्जु	७५
उत्पाद	५८, ५९	कार्य	१०, २१, ३९, ४१, ४२,
उदय	२, ५७		५३, ५८, ६१, ६३, ६८,
उपनर्यकान्त	१०७		६१

कार्यकारणनानात्म	६१	चतुष्टय	१५
कायंजन्म	४२	चामरादिविभूति	१
कायद्रव्य	१०	चित्-सन्ततिनाश	५१, ५२
कायभ्रान्ति	६८	चित्र	९९
कायलिङ्ग	६६	चिदेव	३१
कायसिद्धि	८१	जाति	५८, ६८
कायोत्पाद	५८	जीव-शब्द	८४, ९९
कालसंप्र	५६	झार्म २०, ३६, ९८, १०१, १०५	
किवृत्तचिह्निधि	१०४	ज्ञानस्तोक	९६
कुशलकर्म	८	ज्ञापक	७५
केवलज्ञान	१०५	ज्ञेय	३०, १६
केवली	९६, १०३	ज्ञेयानन्त्य	४६
क्रमभावि	१०१		
क्रमपित्र्य	१६	त	
क्रिया	२४, ४०	तत्त्व ४५, ६०, १०१, १०५,	११०
क्षणिक	११, १३, ४१, ५६	तत्त्वज्ञान	१०१
क्षणिकैकान्तपक्ष	४१	तत्त्वान्त्यत्व	४१
		तत्त्वाथेदेशना	११०,
		तदतदस्तु	११०
ख, ग		तन्त्रभं	८३
खपुण्ड	४२, ५८, ६६, १११	तर्कगोचर	१००
खर-विषाण	५४	तीर्थ-सीर्थकृत्समय	३
गति, गम्य	७६, १०३	त्याग	१०४
गिरा	३१		
गुण	२०, ३६, ६१, ६८	द	
गुण-गुण्डन्यता	६१	दधिक्रत	६०
गुण-मुरुग्य-विवक्षा	३६	दिवौकस्, दिव्य	२
गुरु	३	दुःख	१, १३
		दूरार्थ	५
ख, ज		दूषण	१३
चतुष्टकोटि-विकल्प	४५, ४६		

हष्ट-हष्टभेद	७, २४	निरंकुश	२९, १११
देव-देवागम	१	निरपेक्ष-न्य	१०८
देव-कल्पनविशेष	६३	निर्दोष	६
देव	८८, ८९, ९१	निषेध	२१, ४७
दोष	४, ६, ५६, ६२, ८०	निन्हत	१०, २९, ८१, ८३
द्रव्य	१०, ३४, ४७, ७१, १०७	न्याय	१३, ३२, ५५, ७०, ७४
द्रव्याद्यन्तरभाव	४७	७७, ८२, ९०, ९४, ९७	
द्विद् (ष)	३०		
द्वित्वसंब्लयविशेष	६९	पात्र	१२, २४, २८, ३७
द्वैत	२४, २६, २७	पदोव्रत	६०
		परमार्थविपर्यय	४९
धर्म	१०, १३, २२, ७५	परलोक	८
धर्मधर्मविचिनाभाव	७५	परस्प	४५
धर्मी	१३, १८, २०, ७५	परिज्ञाम-विशेष	३९, ७१
धृत	९२, ९३, ९५	परिज्ञामप्रकलृप्ति	३९
		पर्याय	७१
		पाक्यशक्ति	१००
नभोयान	१	पाप-पापात्मव	४०, ५२, ५३,
नय	१४, २३, १०१, १०६, १०८		५५
नथयोग	१४, २०	पुण्य-पाप-क्रिया	४०
नयविशारद	२३	पुण्य-पुण्यास्वन	९, ५३, ९५
नयपेक्षा	१०४	पृथक्त्व (पृथक)	२८, ३३, ३४,
नय-पनयेकान्त	१०७		४३, ५८
नाशोत्पाद-दि	५९, ६५	पृथक्त्वेकान्तपक्ष	२८
नातात्व	६१, ७२	पौरुष	८८, ८९, ९१
नित्यत्वेकान्त-न्यक्ष	३७, ३९	प्रक्रिया	२३, ४८
निपात	१०३	प्रतिक्षाहेतुदोष	८०
निमित्त	९२, ९३	प्रतिषेष	२७, ५२, १११
नियम, नियाम	५८, १००, ४२	प्रतिषेष्य	१७, १९, २७, ११३

प्रतिषेध्याविरोधि	११३	बुद्धिप्रमाणत्व	८७
प्रतिविष्वक	८५	बुद्ध्यसंचरदोष	५६
प्रत्यक्ष-आदि	५,७६	दोष	१२,८५,८९
प्रत्यक्षज्ञा-, न	४१-५६		अ
प्रध्वंसधर्म-प्रच्छव	१०	भंग, भयिनी	१६,२०,२२,१०४
प्रमा-प्रमोक्षि	८४,८६	भागाभाव, भागित्व	६२
प्रमाण-फल १२,३६,३८,७९,८१,		भाव	९,१०,१२,२४,२९,४०,४१,
	८३,८७,१०२		४३,४७,६४,७८,१३
प्रमाणगोचर	३६	भावप्रमेयापेक्षा	८३
प्रमाणाभास-निन्द्य	७९,८१,८३	भावापन्हववादी	१२
प्रमाता प्रमात्रान्ति	८६	भावेकान्त	१
प्रमेय	८३	मूलचतुष्क	८७
प्रमोद	५९	मेद १७,१८,२४,३३,३४,३६,४७,	
प्रयोजनादिमेद	७२		५६,७२,१०५
प्रसिद्ध	१०	मेदामेदविचक्षा	३४,३६
प्रागभाव	१०	आन्ति-संज्ञा	६७,६८,८३,८६
प्रत्यभाव	२९,४०,४१	मत, मतामूल	७,७६,१००
क, ख		महान्	१
फल-द्वैत	२५	माध्यस्थ्य	५९
बन्ध	२५,४०,९५,९८,९९	माया	१,४४,४४
बन्ध-मोक्षद्वय (द्वैत)	२५	मायादिभ्रान्तिसंज्ञा	८४
बहिरन्तर्मलक्षण	४	मायावी	१
बहिरङ्गार्थतेकान्त	८१	मिथ्या-समूह	१०८,११४
बहिःप्रमेयापेक्षा	८४,८६	मिथ्येकान्तता	१०८
बहिरन्तर्घासाधि-	४०	मिथ्योपदेश	११४
बाह्यार्थ	८६,८७	मुख्य, मुख्यार्थ	३६,४४
बुद्धि, संज्ञा	५६,७९,८५,८७,९१	मूर्ति-कारण-कार्य	६३
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षा	९१	मूषा ३१,४४,४९,६९,७९,११०,	
			११२

व्यस्तिकम्	११	सत्यानुत्तम्यवस्था	८७
व्यपेक्षा	९१	सदास्मा	३०
व्यर्थ	९५	सधर्मा	१०६
व्याज	१००	सन्तति	५२,५४
	११४	सन्तान-वान	८८,४३,८९
शक्ति	१६,७१,१००	सन्तानान्तर	४३
शक्तिमञ्चकितभाव	७१	सप्तभग्ननयापेक्षा	१०४
शब्द-संज्ञा	१३,४४,८४,८५,८७,	सबाहुर्थ	८४
	११२	समय	३
शब्दगोचर	१९	समवाय-स्मी	११,८९,६६
शब्दप्रमाणत्व	८७	समागम	५३
शब्दार्थ	११२	समानदेशता	६३
शुद्धि	९९,१००	समुदाय	२९
शोप	४,१६,२०,२२,६९,१०२	सम्यगुपदेश	११४
शोक	५९	सर्व	३,५,७,९,११,१४,३४,
ओता	८६		३९,४२,४५,४७,४९,
			६६,७२,७६,८१,८९,
			१०१,१०४,१०९
स			
संकलेश-संकलेशाङ्ग	९१	सर्वज्ञ-स्थिति	५
संख्या-विशेष	६९,७२	सर्वतत्त्वप्रकाशन	१०९
संघात	६७	सर्वथा ७,११,१४,३९,४२,५६,७२	
संज्ञा-विशेष	७२,८४,८५	सर्वथेकान्त-त्याग	५,१०४
संज्ञात्व	८४	सर्वात्मक	५,१३
संज्ञी	२७,४७	सर्वेक्षण	३४
सत्	१४,१५,२०,३४,३६,	सहाय्याच्य	१६
	३९,४२,४७,५३,८७	सहेतुक	५९
संत्साभान्य	३४	संवृत्ति-संवृत्तित्व	३६, ४४, ४९,
सत्य	२,११०		५४, ६९
सत्यलाङ्घन	११२		

संस्थिति	५, ११३	स्याद्वादनयसंस्कृता	१०१
साक्षात्	१०५	स्याद्वादन्याय-विहित्	१३, ३२,
सादि	१००		५५, ७७, ७४, ७६, ८३, ९०,
साधन	१२, १३, ३३, ८०		९४, ९७
साधनदूषण	१२	स्याद्वादसंस्थिति	११-
साधनविज्ञप्ति	८०	स्वगोचर	१०२
साध्यर्थ	१७, २९, १०६	स्व-पर-वैरी	८
साधारणहेतु	३४	स्वदेवत-स्वपौरुष	९१
साध्य	१९, २६, ७८, ८०, १०६	स्वभाव	१००, १११
साध्यधर्म	१९	स्वरूप	९, १५, ७१
साध्यसाधनविज्ञप्ति	८०	स्वरूपादिचतुष्टय	१५
सापेक्ष	१०८	स्वलक्षण-विशेष	७२
सामान्य (न्यात्मा)-ता	३१, ३४	स्व-पर-स्य	९५
	५७, ६१, ६५, ६६, ७३, १११, ११२	स्वहेतु	४, १६, २९
सामान्यतद्वदन्यत्व	६१	स्वातंश्य	६४
सामान्यवाक्	११२	स्वार्थसामान्य	१११
सामान्यार्थ, सामान्याभाव	३१	स्वेष्ट	७
सिद्ध, सिद्धि	२६, ६३, ७६	हि-साहेतु	५२
सुख	९२, ९३, ९५	हेतु	४, १३, १९, २६, २७, ३४ ३४, ५२, ५३, ५८, ७६ ७८, ८०, ८४, ९९
सूक्षमार्थ	५		
स्कल्प, स्कल्पसन्तति	५४	हेतुशब्द	८४
स्थिति	५४, ९९	हेतुअव्य	५८
स्थित्युत्पत्तिव्यय	५४	हेतुसमागम	५३
स्थात्, स्याद्वाव	१३, ३१, ५५, ७०, ७४, ७७, ८२, ९०, ९४, ९७, १०१, १०३, १०६	हेतुसाधित	७८
स्थात्कार	११२	हेतुसाध्य	२६, ७८
		हेय-हेयत्व	१०४, ११३
		हेयादेय विशेषक	१०४